❀ विषय-सूची ❀

-: निवेदन :-

श्री जवाहरकिरणावली की आठवीं किरण पाठकों के कर-कमलों में पहुँचाते हुए हमारे हर्ष की सीमा नहीं है। आशा है पाठकों के लिए यह विशेष उपयोगी साबित होगी।

प्रस्तुत किरण में परमप्रतापी स्वर्गीय जैनाचार्य श्री १००८ श्री जवाहरलालजी महाराज के उन महत्वपूर्ण प्रवचनों का संग्रह है, जो उन्होंने काठियावाड़ में किये थे। यों तो सम्पूर्ण उत्तराध्ययनसूत्र ही परमोपयोगी और जीवन को उन्नत बनाने वाली सुन्दर शिक्षाओं से परिपूर्ण है; मगर सम्यक्त्वपराक्रम नामक २९ वाँ अध्ययन तो खास तौर से बड़ा ही गम्भीर और ज्ञातव्य है। इसी अध्ययन पर यह प्रवचन किये गये हैं। इस अध्ययन में जैनधर्म का सारतत्त्व आ जाता है। फिर पूज्यश्री ने जिस उत्तमता के साथ इस अध्ययन के विभिन्न बोलों पर प्रकाश डाला है, वह तो पढ़ते ही बनता है। इन बोलों पर इतनी सुन्दर और विस्तृत व्याख्या अभी तक किसी ने नहीं की थी।

इस अध्ययन में ७३ बोल हैं और सभी बोल धार्मिक और आध्यात्मिक हैं। पूज्यश्री ने उनकी व्यापक व्याख्या करते हुए उन्हें [illegible] सरल और सरस बना दिया है। पूज्यश्री के विपुल [illegible] [illegible] इस [illegible] प्रतीत होने लगता है कि पूज्यश्री का [illegible] केवल जैन, [illegible]
[illegible] ८

सम्यक्त्वपराक्रम

सूत्रपरिचय

(क)

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के 'सम्यक्त्वपराक्रम' नामक २९ वें अध्ययन के विषय में यहाँ कहना है। इस अध्ययन का अर्थ बहुत विस्तृत और विशाल है। मगर पहले यह देख लेना चाहिए कि श्री-उत्तराध्ययनसूत्र किस प्रकार बना है? यह बात जानने से इस पर प्रीति और रुचि उत्पन्न होगी।

परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि उत्तराध्ययनसूत्र भगवान महावीर की अन्तिम वाणी है। विचार करने पर यह कथन सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि समग्र सूत्र के अर्थ के कर्त्ता—अर्थागम के उपदेष्टा—अर्हन्त भगवान ही माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख पाया जाता है कि—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुन्थइ गणहरा।

अर्थात्—अर्हन्तों की अर्थ रूप प्ररूपणा को ही गणधर सूत्र के रूप में गूंथते हैं।

१

सम्यक्त्वपराक्रम

सूत्रपरिचय

(क)

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के 'सम्यक्त्वपराक्रम' नामक २९ वें अध्ययन के विषय में यहाँ कहना है। इस अध्ययन का अर्थ बहुत विस्तृत और विशाल है। मगर पहले यह देख लेना चाहिए कि श्री-उत्तराध्ययनसूत्र किस प्रकार बना है ? यह बात जानने से इस पर प्रीति और रुचि उत्पन्न होगी।

परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि उत्तराध्ययनसूत्र भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी है। विचार करने पर यह कथन सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि समग्र सूत्र के अर्थ के कर्त्ता—अर्थागम के उपदेष्टा—अर्हन्त भगवान् ही माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख पाया जाता है कि—

अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुन्थइ गणहरा।

अर्थात्—अर्हन्त ही अर्थ रूप प्ररूपणा करते हैं, गणधर सूत्र [illegible] हैं

अतएव यह स्पष्ट है कि उत्तराध्ययनसूत्र के अर्थकर्त्ता भगवान् महावीर ही हैं। उसके पाठ के कर्त्ता कोई महास्थविर और सूत्र के पारगामी महानुभाव हैं। भद्रबाहु स्वामी ने इस सूत्र पर निर्युक्ति रची है। अतः यह सब कथन युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है।

भद्रबाहु स्वामी द्वारा निर्युक्ति की रचना होने से यह भी प्रकट है कि प्रस्तुत सूत्र भद्रबाहु स्वामी से पहले की रचना है और वह इसे प्रमाणभूत मानते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें इस सूत्र के प्रति प्रेमभाव भी था, इसी कारण उन्होंने इस पर निर्युक्ति की रचना की और अपना सूत्रप्रेम प्रकट किया है। अलबत्ता भद्रबाहु स्वामी के विषय में मतभेद है कि किन भद्रबाहु स्वामी ने निर्युक्ति की रचना की है? लेकिन अगर इस सूत्र के निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के धारक हों और उपलब्ध निर्युक्ति उनकी ही रचना हो तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने भी यह सूत्र प्रमाणभूत माना है। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रस्तुत सूत्र अनेक सूत्रों में से उद्धृत और महापुरुषों की वाणी का संकलन है।

निर्युक्ति के पश्चात् इस सूत्र पर चूर्णि और अनेक संस्कृत टीकाएँ भी रची गई हैं। सुना जाता है कि इस सूत्र की ४६ टीकाएँ लिखी गई हैं। इससे ज्ञात होता है कि भद्रबाहु के परवर्त्ती आचार्यों ने भी इसे प्रमाणभूत माना है और इसे जनता के लिए विशेष उपयोगी तथा उपकारक समझ कर ही इस पर इतनी टीकाएँ लिखी हैं। इन सब बातों पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र प्रमाणभूत और अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत सूत्र का नाम 'उत्तराध्ययन' क्यों पड़ा? यह भी विचारणीय है। 'उत्तर' शब्द अनेकार्थवाचक है, परन्तु यहाँ 'क्रम'

अर्थ में विवक्षित है। एक कार्य के बाद जो दूसरा कार्य किया जाता है वह 'उत्तर' कार्य कहलाता है अर्थात् पिछले कार्य को 'उत्तर' कार्य कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र आचारांगसूत्र के बाद पढ़ाया जाता है. अतः इसे उत्तराध्ययनसूत्र कहते हैं। इस प्रकार मूल आचारांग रहा और उत्तर—तदनन्तर का उत्तराध्ययन ठहरा। इस प्रकार आचारांगसूत्र के बाद पढ़ाया जाने के कारण इस सूत्र का नाम उत्तराध्ययन पड़ा है, ऐसा प्रतीत है। परन्तु उत्तराध्ययनसूत्र से पहले भी आचारांगसूत्र पढ़ाने का क्रम शय्यंभव आचार्य से पहले का है।

जब शय्यंभव आचार्य ने दशवैकालिकसूत्र रचित किया और वह थोड़े में ही विशेष ज्ञान कराने वाला सूत्र मान लिया गया, तब उत्तराध्ययनसूत्र से पहले आचारांगसूत्र के पठन-पाठन के बदले दशवैकालिकसूत्र के पठन-पाठन का क्रम चालू हो गया। चार मूल सूत्रों में दशवैकालिक भी एक मूल सूत्र गिना गया है और उसके पश्चात् इस सूत्र का अध्ययन-अध्यापन होता है, इस कारण भी इसे उत्तराध्ययन कहते हैं। मतलब यह है कि दशवैकालिकसूत्र मूल है और वह पहले पढ़ा-पढ़ाया जाता है और उसके उत्तर-अनन्तर इस सूत्र का अध्ययन किया जाता है, अतएव इसे 'उत्तराध्ययन' कहते हैं।

'उत्तराध्ययन' शब्द पर थोड़ा विचार और करें। 'उत्तर' शब्द का अर्थ 'प्रधान' भी होता है। मगर यहाँ 'प्रधान' अर्थ की अपेक्षा 'अनन्तर' अर्थ करना अधिक संगत प्रतीत होता है। अगर 'उत्तर' शब्द का 'प्रधान' अर्थ ही किया जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सूत्र किस प्रकार प्रधान है और किससे प्रधान है? अगर यह सूत्र 'किसी' अन्य सूत्र की अपेक्षा प्रधान है तो क्या कोई सूत्र अप्रधान भी है? ऐसा मानना सदोष है अतएव यह

गुण नहीं वरन् अनुत्तर गुण रहता है। मध्यम में दो के अंक की तरह स-उत्तर और अनुत्तर—दोनों गुण पाये जाते हैं।

यह हुई द्रव्य-उत्तर की बात। द्रव्य-उत्तर की अपेक्षा इस सूत्र का 'उत्तराध्ययन' नाम ठीक ही है, क्योंकि 'उत्तराध्ययन' नाम अनुत्तर की अपेक्षा रखता है और इसका अनुत्तर सूत्र आचारांग है। इस सूत्र से पहले आचारांगसूत्र पढ़ाया जाता है, अतएव यह उत्तराध्ययनसूत्र स-उत्तर है।

भाव-उत्तर की अपेक्षा उत्तराध्ययनसूत्र, पाँच भावों में से क्षायोपशमिक भाव में है। क्षायोपशमिक भाव में जो सूत्र हैं, उनमें भी क्रम है। जैसे-आचारांगसूत्र भी क्षायोपशमिक भाव में है और उत्तराध्ययन भी क्षायोपशमिक भाव में है। किन्तु आचारांगसूत्र पूर्ववर्त्ती है और उत्तराध्ययन उसका उत्तरवर्त्ती है। इसी कारण इसे 'उत्तराध्ययन' कहते हैं। आचारांगसूत्र को अगर क्षायोपशमिक भाव में न गिना जाय तो दोष आएगा। अतएव यह तो मानना ही चाहिये कि दोनों सूत्र क्षायोपशमिक भाव में हैं, तथापि आचारांग-सूत्र अनुत्तर है और उत्तराध्ययन स-उत्तर है, क्योंकि आचारांग सूत्र को पढ़ने के पश्चात् ही उत्तराध्ययनसूत्र पढ़ाया जाता है। इस कथन की साक्षी में निर्युक्तिकार की निम्नलिखित गाथा उपस्थित की जाती है—

> कम उत्तरेण पगयं आयारस्सेव उवरियाणं तु ।
> तम्हाउ उत्तरा खलु अज्झयणा होंति णायव्वा ।

[illegible] यह है कि इस सूत्र का 'उत्तराध्ययन' नाम पड़ने का कारण यह है कि यह सूत्र [illegible] है। [illegible] यह [illegible] है और भाव में भी क्षायोपशमिक भाव में [illegible] है।

कहा जा सकता है कि यह सूत्र क्षायोपशमिक भाव में ही क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—अनुयोगद्वारसूत्र में बतलाया गया है कि चार ज्ञान स्थापना रूप हैं। लेना, देना, समझना-समझाना वगैरह कार्य श्रुतज्ञान से ही होते हैं और श्रुतज्ञान का समावेश क्षायोपशमिक भाव में है। इसीलिए यह सूत्र भी क्षायोपशमिक भाव में है। क्षयोपशमिक भाव में भी क्रम है। इस क्रम में आचारांगसूत्र प्रथम है और यह उत्तराध्ययनसूत्र उसके पीछे है। और इसी कारण आचारांगसूत्र के पश्चात् ही यह सूत्र पढ़ाया जाता है। इस कारण इसे 'उत्तराध्ययन' सूत्र कहते हैं।

यद्यपि क्रम यही है, किन्तु ऊपर उद्धृत की हुई गाथा में निर्युक्तिकार ने 'तु' पद का जो प्रयोग किया है, उससे पूर्वोक्त क्रम से भिन्न क्रम का भी बोध होता है। आचारांग को पढ़ाने के पश्चात् ही उत्तराध्ययन को पढ़ाने का क्रम शय्यंभव आचार्य तक ही चला। जब शय्यंभव आचार्य ने दशवैकालिक सूत्र की रचना की तब दशवैकालिकसूत्र पहले और उत्तराध्ययनसूत्र उसके बाद पढ़ाया जाना आरम्भ हो गया। इस प्रकार आचारांग का स्थान दशवैकालिक ने ले लिया। फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र अपने स्थान पर ही रहा। इस क्रम-परिवर्त्तन से ज्ञात होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिक से [illegible] की रचना है।

दशवैकालिकसूत्र की रचना के विषय में एक कथा प्रसिद्ध है कि शय्यंभव आचार्य के निकट उनका पुत्र भी संयम का पालन करता था अर्थात् मुनि था। उन्होंने किसी साधु को नहीं बतलाया था कि यह साधु संसार-पक्ष का मेरा पुत्र है। शय्यंभव आचार्य को यह मालूम हो गया कि इस साधु की उम्र सिर्फ छह महीना शेष

कठिन हो जाता है। अतएव आत्मार्थी भद्र पुरुषों के लिए यह सूत्र अतीव उपकारक होगा। अनुग्रह कर इसे इसी रूप में रहने दीजिए।'

शय्यंभव आचार्य ने कहा—'इस सूत्र में जो भी कुछ है, भगवान की ही वाणी है। इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है।' इस प्रकार कहकर उन्होंने दशवैकालिकसूत्र स्थविरों के समक्ष रख दिया। सूत्र देखकर स्थविरों ने उसे बहुत पसन्द किया और फिर तो उसने आचारांग का स्थान ग्रहण कर लिया। पहलेपहल यही सूत्र पढ़ाया जाने लगा।

पानी में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। जिनवाणी के विषय में भी यही बात है। जिनवाणी भी सब के लिए समान है। पानी चाहे तालाब में हो चाहे कूप में हो, आता सब एक ही जगह से है। अर्थात् वर्षा होने पर ही सब जगह पहुंचता है। इसलिए पानी में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। परन्तु जब लोग तालाब या कुएँ से पानी का घड़ा भर लाते हैं तो उसमें अहंकार का मिश्रण हो जाता है—यह पानी मेरा है, यह तेरा है, इस प्रकार का भेदभाव उत्पन्न हो जाता है। परन्तु वास्तव मे पानी में कुछ भी भेद नहीं होता। प्रकृति सब के लिए पानी बरसाती है। प्रकृति समान रूप से सब का जैसा पोषण करती है, वैसा पोषण दूसरा कोई नहीं कर सकता।

जिस प्रकार सरोवर या कूप में से घड़ा भर लेने से जल अपना माना जाता है, तथापि जहाँ से पानी लाया गया है, वह जलाशय सबको पानी देता है। इसी प्रकार जिनवाणी सरोवर के समान है। जिनवाणी के इस शीतल सुधामय सरोवर में से अपनी

बुद्धि द्वारा सूत्र रूपी घट भर लिया जाय तो कोई हानि नहीं, परन्तु यह वाणी तो भगवान् की ही है।

कहने का आशय यह है कि निर्युक्तिकार ने जो 'तु' शब्द का प्रयोग किया है, वह इस बात को स्पष्ट करता है कि आचारांग-सूत्र पढ़ाने के पश्चात् उत्तराध्ययन पढ़ाने का क्रम पहले से चला आता था, परन्तु जब दशवैकालिकसूत्र की रचना हुई और उसने आचारांग का स्थान ग्रहण कर लिया, तब भी उत्तराध्ययनसूत्र तो दशवैकालिक के बाद ही पढ़ाया जाता रहा। इस प्रकार क्रम में किंचित् परिवर्तन होने पर भी प्रस्तुत सूत्र का 'उत्तराध्ययन' नामक सार्थक ही बना रहा। पहले दशवैकालिक और पीछे इस सूत्र का पठन-पाठन होने के कारण यह उत्तर ही रहा।

दशवैकालिकसूत्र के पश्चात् इस सूत्र का अध्ययन-अध्यापन होने की दृष्टि से भी 'उत्तराध्ययन' नाम सार्थक ही है और सूत्र-प्रधान नहीं किन्तु क्रमप्रधान होने के कारण भी 'उत्तराध्ययन' नाम उचित है। जिनवाणी में सभी सूत्र प्रधान हैं, अतः उत्तर शब्द का अर्थ क्रमप्रधान मानना ही संगत प्रतीत होता है।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उत्तराध्ययनसूत्र, आचारांग का अनन्तरवर्ती क्यों कहा गया है? क्या आचारांगसूत्र के कर्त्ता ही उत्तराध्ययनसूत्र के भी कर्त्ता हैं? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ऐसा नहीं है। आचारांगसूत्र [illegible] [illegible]—कहलाता है और यह उत्तरा- [illegible]—कहा गया है

[illegible] इस [illegible] [illegible] [illegible] है और [illegible]

अध्ययन जिनवाणी में से संकलित हैं। ऐसी दशा में उत्तराध्ययनसूत्र को स्थविरों का आत्मागम कहना कहाँ तक संगत हो सकता है? इस कथन के अनुसार इस सूत्र के अनेक कर्त्ता सिद्ध होते हैं। इसका समाधान यह है कि इस सूत्र के विषय में यही प्रसिद्ध है कि यह स्थविरों का बनाया हुआ है और नंदीसूत्र में इस कथन का समर्थन किया गया है।

फिर प्रश्न खड़ा होता है कि नन्दीसूत्र के कथनानुसार भगवान् के जितने शिष्य होते हैं, उतने ही उनके पइन्ना (प्रकीर्णक) बनते हैं, और उत्तराध्ययनसूत्र की गणना प्रकीर्णक में होती है। ऐसी स्थिति में कौन-सी बात ठीक समझी जाय?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह सभी बातें ठीक हैं। यद्यपि यह सूत्र पूर्व-अंग में से उद्धृत तथा अंग के उपदेश में से संग्रह करके बनाया गया है फिर भी इसे स्थविरों की रचना कहना गलत नहीं है। उदाहरणार्थ-एक महिला रोटी बनाती है, मगर उसने रोटी बनाने का सामान नहीं बनाया है। अगर उस महिला से पूछा जाय तो वह यही कहेगी कि मैंने रोटी का सामान तो नहीं बनाया है, सिर्फ सामान का उपयोग करके रोटी तैयार करदी है। इस प्रकार उस महिला ने रोटी के सामान से रोटी बनाई है, फिर भी कोई यह कहता है- यह रोटी उस महिला की है' तो कोई कहता है- यह रोटी आटे की है। इन दोनों बातों में से कौन-सी बात सही मानी जाय? दोनों बातें ठीक माननी होंगी।

इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र स्थविरों ने रचा है या जिनवाणी में से संगृहीत और अंगों में से उद्धृत है, यह दोनों ही कथन सही हैं। दस्सा और बरतनों को आप अपना बतलाते हैं, परन्तु उनमें

आपका क्या है ? फिर भी आप अपना तो कहते ही हैं । इसी प्रकार इस उत्तराध्ययनसूत्र के कर्त्ता के विषय में भी अनेक दृष्टियों से विचार करने पर उक्त दोनों ही कथन सत्य प्रतीत होंगे ।

यह उत्तराध्ययनसूत्र स्थविरों ने पूर्व अंग में से उद्धृत करके और जिनवाणी के उपदेश का तथा सम्वाद आदि का संग्रह करके बनाया है । अब यह देखना चाहिये कि इस सूत्र का सार क्या है ? इस सूत्र का सार है-बंध और मोक्ष का स्वरूप बतलाना कल्पना कीजिये, एक मनुष्य भयानक जंगल में फँस गया है । जंगल में पद-पद पर सांपों और सिंहों का भय है । ऐसे विकट समय में दूसरा मनुष्य आकर उससे कहता है-तुम मेरे साथ चलो । मैं तुम्हें इस भयंकर जंगल से बाहर निकाल कर सुरक्षित नगर में पहुंचा दूंगा । ऐसे प्रसंग पर जंगल में फंसा हुआ मनुष्य आगन्तुक मनुष्य का रूप देखेगा या उसके भाव पर विचार करेगा ? वह रूप न देख-कर उसके कहने के भाव पर ही विचार करेगा ? वह यही सोचेगा कि जब यह मनुष्य मुझे जंगल में से बाहर निकाल कर सुखपूर्वक नगर में पहुंचाए देता है तो मुझे इस विषय में तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता ही क्या है ?

इस उदाहरण को ध्यान में लेकर इस सूत्र के सार पर विचार कीजिये कि इस सूत्र का सार क्या है ? यह सूत्र जब संसार रूपी जंगल से बाहर निकाल कर मोक्षनगर में सुखपूर्वक पहुंचा देता है तो फिर इसके विषय में व्यर्थ तर्क-वितर्क करने से क्या लाभ है ? इस सूत्र में आजकल की अनेक पुस्तकों के समान भाषा का आडम्बर नहीं है और जो सूत्र इतना प्राचीन है उसमें भाषा का आडम्बर हो भी कहां से ? भाषा का आडम्बर न होते हुए भी यह

सूत्र कैसा है ? और जिन पुस्तकों में भाषा का आडम्बर है, वह कैसी हैं ? उनमें कितना विकार भरा हुआ है ? इस बात पर विचार करना चाहिए। अतएव इस सूत्र से सम्बन्ध रखने वाली अन्यान्य बातों में न उलझे रहकर यही देखो कि यह सूत्र परमात्मा की शरण में ले जाने वाला है या नहीं ?

अमुक वाणी, सूत्र या ग्रन्थ भगवान की शरण में ले जाने वाले हैं या नहीं, इस बात की परीक्षा करना आप सीख लेंगे तो फिर कभी किसी के धोखे में न आएँगे। हृदय में अशुभ भावना तो जागृत ही रहती है। उसे जागृत करने की आवश्यकता नहीं होती। कहावत है—'सन्त जागें धर्मध्यान के लिए, चोर जागें चोरी के लिए।' इस प्रकार अशुभ भावना तो जागृत ही रहती है; मगर मुख्य काम तो शुभ भावना को जागृत करना है और वह काम भगवान् की वाणी और महात्माओं की शरण गहने से ही हो सकता है। भगवान की वाणी जागृत और बलवान बनाती है। भगवान् की वाणी जागृत, प्रेरित करने वाली और बल देने वाली है, इस बात की परीक्षा करने के लिए कहा गया है :—

जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं ।

—उत्तराध्ययन, ३, ८

अर्थात् जिस वाणी को सुनकर तप, क्षमा और अहिंसा की इच्छा जागृत हो, वही वास्तव में भगवद्वाणी (सूत्र) है और जिसके श्रवण से भोग, क्रोध तथा हिंसा की इच्छा जागृत हो वह शास्त्र नहीं, शस्त्र है। शास्त्र के विषय में इस बात का ध्यान रक्खोगे तो कभी और कहीं भी ठगे नहीं जा सकोगे। जिसके द्वारा अहिंसा,

तप तथा क्षमा की जागृति होती हो, ऐसी वस्तु कहीं से भी लेने में हानि नहीं है; परन्तु जिसके द्वारा हिंसा, भोग तथा क्रोध की इच्छा जागृत हो, ऐसी वस्तु कहीं से भी मत लो। फिर वह चाहे किसी के नाम पर ही क्यों न मिलती हो!

अब देखना चाहिए कि तप, क्षमा और अहिंसा का अर्थ क्या है? कुछ लोग उपवास को ही तप कहते हैं, परन्तु उपवास तो तप का एक अंग मात्र है। बारह प्रकार के तपों में उपवास भी एक तप है। परन्तु उपवास में ही तप की समाप्ति नहीं हो जाती। अगर किसी में उपवास करने का सामर्थ्य नहीं है तो वह तप के दूसरे अंग द्वारा भी तप कर सकता है। तप से आत्मा को शान्ति-लाभ होता है। जब आत्मा को शान्ति मिले तो समझना चाहिए कि यह तप का ही प्रभाव है। इसी प्रकार क्षमा और अहिंसा के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

सूत्रपरिचय

(ख)

उत्तराध्ययनसूत्र के सम्बन्ध में विशेष विचार करने पर विदित होता है कि प्रस्तुत सूत्र अनेक सूत्रों में से उद्धृत किया गया है और इसमें अनेक महापुरुषों की वाणी का संग्रह किया गया है। इस कथन के लिए प्रमाण क्या है? निर्युक्तिकार कहते हैं—

> अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया ।
> बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा ॥

अर्थात् इस उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों में से कुछ अध्ययन अंगों में के हैं अर्थात् पूर्व अंग में से उद्धृत हैं। अंग का अर्थ यहाँ दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद में भी पूर्व के भाग में से उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार कुछ अध्ययन दृष्टिवाद में से उद्धृत हैं। जैसे—परिषह नामक दूसरे अध्ययन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह अध्ययन 'कर्मप्रवाद' नामक पूर्व के सत्रहवें अध्ययन में से उद्धृत किया गया है। कुछ अध्ययन जिनभाषित हैं, जैसे—गौतम स्वामी को सम्बोधन करके भगवान ने उपदेश दिया है। यद्यपि भगवान ने गौतम स्वामी को सम्बोधन करके उपदेश दिया है तथापि

यहाँ तो केवल यही बतलाना है कि उत्तराध्ययनसूत्र बंध और मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादन करता है। इस सूत्र के प्रथम अध्ययन में विनय का स्वरूप बतलाया गया है और अट्ठाईसवें अध्ययन में मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है। मोक्ष के मार्ग में प्रयाण करने के लिए पराक्रम की आवश्यकता होती है और इसी लिए २६ वें अध्ययन में 'सम्यक्त्वपराक्रम' का प्रतिपादन किया गया है। इस 'सम्यक्त्वपराक्रम' नामक अध्ययन में क्या बतलाया गया है, इसी बात का यहाँ वर्णन किया जायगा।

'सम्यक्त्वपराक्रम' नामक २६ वें अध्ययन का वर्णन करने से पहले यह देखना है कि इस अध्ययन का 'मोक्षमार्ग' नामक अट्ठाईसवें अध्ययन के साथ क्या सम्बन्ध है? पूर्वापर सम्बन्ध समझे बिना कही जाने वाली बात ठीक नहीं होती। नीति में भी कहा है—*'संहतिः श्रेयसी'* अर्थात् एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध जोड़ने में कल्याण है और पारस्परिक सम्बन्ध न जोड़ने में कल्याण नहीं है। शरीर के अंगोपांग यों भले ही अलग-अलग दिखाई देते हैं, मगर वास्तव में वह सब परस्पर सम्बद्ध हैं। अंगोपांगों के पारस्परिक सम्बन्ध के अभाव में काम नहीं चल सकता। दाहिना और बायां हाथ जुदा जुदा है मगर दोनों के सहकार के बिना काम चल नहीं सकता। एक हाथ में अंगूठी पहनने के लिए दूसरे हाथ की सहायता चाहिए ही। यह बात जुदी है कि स्वयं का दूसरा हाथ बेकाम हो और कोई दूसरा मनुष्य अंगूठी पहना दे फिर भी दूसरे हाथ की आवश्यकता तो रहती ही है। इस तरह जैसे शरीर के विभिन्न अंगों में संगति की आवश्यकता है उसी प्रकार सूत्र में भी संगति की आवश्यकता है। इसी कारण यह देखना आवश्यक है कि अट्ठाईसवें

और उनतीसवें अध्ययनों में संगति है या नहीं? अगर संगति है तो किस प्रकार की?

अट्ठाईसवें अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है और उनतीसवें का नाम 'सम्यक्त्वपराक्रम' है। इस तरह दोनों में नाम का अन्तर होने पर भी भाव की दृष्टि से दोनों के बीच संगति है। दोनों अध्ययनों का आशय एक ही है। अट्ठाईसवें अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है और उसमें मोक्ष के मार्ग का निरूपण किया गया है। उनतीसवें अध्ययन में जिन ७३ बोलों की चर्चा की गई है, उनमें पहले-पहल 'संवेग' है और अंतिम बोल 'अकर्म' है। संवेग और अकर्म—दोनों मोक्ष के ही साधन हैं, इस प्रकार इन दोनों अध्ययनों का आपस में सम्बन्ध है और इस प्रकार का सम्बन्ध होने के कारण ही निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन का 'अप्रमत्त अध्ययन' नाम प्रकट किया है। निर्युक्तिकार ने यह मध्यवर्ती नाम बतलाया है। इस अध्ययन का आदि नाम 'सम्यक्त्व पराक्रम' है, मध्यनाम 'अप्रमत्त-अध्ययन' है और अन्त का नाम 'वीतरागसूत्र अध्ययन' है। निर्युक्तिकार आचार्य ने इन तीन नामों में से मध्य का नाम ग्रहण कर लिया है, जिससे कि आदि और अन्त के नामों का भी ग्रहण हो जाय। सम्यक्त्व के विषय में पराक्रम अप्रमाद से ही होता है और वीतरागता की प्राप्ति भी अप्रमाद से ही होती है। इसी कारण आचार्य ने इस अध्ययन का नाम 'अप्रमाद-अप्रमत्त अध्ययन' रक्खा है।

सम्यक्त्व-पराक्रम और वीतरागता की प्राप्ति अप्रमाद से ही होती है, इसलिए आचार्य ने मध्य द्वार में रक्खे हुए दीपक की भाँति इस मध्य-नाम को ग्रहण किया है। मध्य द्वार में रक्खे दीपक का प्रकाश भीतर भी होता है और बाहर भी, इसी प्रकार सम्यक्त्व पराक्रम और वीतरागता के ऊपर प्रकाश डालने वा[illegible] होने के

कारण आचार्य श्री ने यह मध्य नाम 'अप्रमाद' स्वीकार किया है। अप्रमाद पर प्रकाश डालने से सम्यक्त्वपराक्रम और वीतरागता पर किस प्रकार प्रकाश पड़ता है, यह बात यथासमय आगे बतलाई जायगी।

अप्रमाद की व्याख्या चार अनुयोगद्वारों से की जाय तो यह बात स्पष्ट रूप से समझी जा सकेगी कि प्रमाद किसे कहना चाहिए और अप्रमाद किसे कहना चाहिए? चार अनुयोगद्वारों द्वारा व्याख्या करने का अभिप्राय क्या है? इस सम्बन्ध में शास्त्र में कहा है—जैसे किसी नगर में द्वार की मार्फत ही प्रवेश किया जा सकता है। द्वार ही न हो तो नगर में प्रवेश नहीं हो सकता। और यदि किसी महानगर में एक-दो ही द्वार हों तो प्रवेश करने वालों को कठिनाई उठानी पड़ती है। इसलिए नगर के चारों ओर चार द्वार बनाये जाते हैं। इससे प्रवेश करने में सरलता होती है। इसी प्रकार शास्त्र की व्याख्या करने में तथा समझने में चार द्वारों की व्यवस्था की गई है, जिन्हें अनुयोगद्वार कहते हैं।

उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय यह चार अनुयोगद्वार हैं। उपक्रम की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'उपक्रम्यतेऽनेन इति उपक्रमः।' अर्थात् दूर की वस्तु को जो समीप लावे वह उपक्रम कहलाता है। वस्तु का यथास्थान स्थापन करने वाला निक्षेप कहलाता है। उदाहरणार्थ किसी को घर बनाना है। घर बनाने के लिए दूर-दूर से ईंट-पत्थर आदि सामान नजदीक लाया जाता है। इसे उपक्रम समझना चाहिए। पश्चात् वह सामान यथास्थान रखा जाता है वह 'निक्षेप' है। अगर सामान नजदीक न लाया जाय अर्थात् उपक्रम न किया जाय और उपक्रम करके भी अगर निक्षेप न किया जाय अर्थात् वस्तुओं को यथास्थान स्थापित न किया जाय तो

मकान कैसे बन सकता है ? इस प्रकार दूर की वस्तु को पास में लाना उपक्रम है और पास में लाई वस्तु को यथास्थान रखना निक्षेप है।

उपक्रम के दो भेद हैं—(१) सचित्त उपक्रम और (२) अचित्त उपक्रम। सचित्त उपक्रम के द्विपद, चतुष्पद और अपद के भेद से तीन प्रकार हैं अर्थात् द्विपद, चतुष्पद और अपद जीवों का उपक्रम करना सचित्त उपक्रम है। बहुत-से लोग भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं, परन्तु शास्त्र तो उपक्रम करने के लिए कहता है। अगर भाग्य भरोसे बैठ रहना ही ठीक होता तो शास्त्रकार उपक्रम करने के लिए क्यों कहते ? सचित्त के ही समान अचित्त अर्थात् निर्जीव वस्तु का भी उपक्रम होता है।

सचित्त वस्तु का उपक्रम किस प्रकार होता है, यह समझाने के लिए एक द्विपद मनुष्य या बालक का उदाहरण दिया जाता है। अगर किसी बालक का उपक्रम न किया जाय अर्थात् उसे शिक्षा के संस्कार न दिये जाएँ तो वह कैसा बन जायगा ? यह दूसरी बात है कि आजकल उपक्रम करने में भी, शिक्षा-संस्कार के नाम पर बहुत कुछ खराबियाँ हो रही हैं और फिर भी उसे उपक्रम का नाम दिया जाता है। इस बात को ध्यान में रख कर उपक्रम के दो भेद किये गये हैं—(१) परिकर्म और (२) वस्तुविनाश। किसी वस्तु के गुणों की वृद्धि करना अथवा उसका विकास करना परिकर्म है और वस्तु के गुणों का नाश करना या उसके गुणों का ह्रास करना वस्तुविनाश है। किसी वस्तु के गुणों का विकास करना या ह्रास करना दोनों ही उपक्रम हैं पर विकास करना परिकर्म और ह्रास करना वस्तुविनाश है। अतएव बालक के गुणों का विकास किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय में खूब विवेक रखना आवश्यक है

शास्त्र को समझने के लिए पहले उपक्रम करने की आवश्यकता होती है। जो वस्तु दूर हो उसे उपक्रम करके समीप लाओ और फिर उसे यथास्थान रख कर उसका निक्षेप करो। वस्तु को यथास्थान स्थापित करना ही निक्षेप कहलाता है। निक्षेप चार प्रकार का है—(१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य और (४) भाव।

वस्तु का निक्षेप करने के पश्चात् उसका अनुगम करो अर्थात् रचना करो। ह्रस्व दीर्घ, उदात्त-घोष तथा सूत्र के अन्यान्य अतिचारों को दूर करके सूत्र की जैसी रचना करनी चाहिए वैसी ही रचना करना अनुगम कहलाता है। अनुगम करने के अनन्तर नय की सहायता से सूत्र को समझना चाहिए। नय की सहायता के बिना सूत्र समझ में नहीं आ सकते।

शास्त्र-नगर में प्रवेश करने के लिए सिद्धान्त में चार अनुयोगद्वार बतलाये गये हैं। जहाँ इन चार अनुयोगद्वारों में अपूर्णता होती है वहाँ शास्त्रनगर में प्रवेश करने में कठिनाई उपस्थित होती है अर्थात् जहाँ यह चार अनुयोगद्वार नहीं हैं वहाँ प्रथम तो शास्त्रनगर में प्रवेश ही नहीं हो सकता, कदाचित् होता भी है तो कष्ट से होता है। कई लोग कहते हैं कि शास्त्र हमारी समझ में नहीं आते मगर चार अनुयोगद्वारों के अभाव में शास्त्रनगर में किस प्रकार प्रवेश हो सकता है? कोई मनुष्य नगर के द्वार में प्रवेश न करे किन्तु नगर में प्रवेश करना चाहे तो वह कैसे प्रवेश कर सकता है और वह कैसे जान सकता है कि अमुक नगर में क्या है? इसी प्रकार शास्त्ररूपी नगर में प्रवेश करने के लिए चार अनुयोगद्वार [illegible] शास्त्रनगर में प्रवेश [illegible]

प्राचीन काल के लोग महात्माओं के पास से शास्त्र श्रां
थे और उनका रहस्य समझते थे। परन्तु आजकल यन्त्रों द्वा
शास्त्र छपाये जाते हैं और कुछ लोग शास्त्रों का ऊपरी वाचन क
समझने लगते हैं कि हम भी शास्त्रों के ज्ञाता हैं। परन्तु महात्मा
की शरण में गये बिना न तो शास्त्र ठीक-ठीक समझे जा सकते हैं
न उनके विषय में सम्यक् विचार ही हो सकता है। अतएव म
त्माओं की शरण में जाकर शास्त्र समझो। ऐसा किये बिना श
भलीभाँति नहीं समझे जा सकते।

किसी भी सामग्री के सम्बन्ध में अनुकूल विचार कि
जाय तो कार्य भी अनुकूल होता है और विरुद्ध विचार किया ज
तो विरुद्ध कार्य होता है। उदाहरणार्थ विचार कीजिए कि आप
शरीर मूल्यवान् है या यह वस्तुएँ मूल्यवान् हैं ? इस शरीर
चमड़ी महँगी है या कपड़े महँगे हैं ? डाक्टरों के कथनानुसार च
में अनेक गुण हैं। शरीर की चमड़ी में जो गुण हैं, उन्हीं के का
हमारा जीवन टिका हुआ है। शरीर की चमड़ी में शीत
उष्णता सहन करने की क्षमता है। लोहे का पिंड गरम किया
तो अग्नि में से निकलने के पश्चात् थोड़े समय तक ही वह गरम
सकता है और फिर ठण्डा पड़ जाता है। पर यह शरीर ही ऐसा
जो ठण्ड के दिनों में गरम रहता है और मुँह से भाफ निकालना
परन्तु गर्मी के दिनों में ठण्डा रहता है यह शरीर की त्वचा का
[illegible] है

[illegible]

गुण वाली चमड़ी को भूलकर लोग वस्त्रों के प्रलोभन में पड़ जाते हैं। वे इस बात का विचार ही नहीं करते कि ठूँस-ठूँस कर कपड़े पहनने से चमड़े को कितनी हानि पहुँचती है? वस्त्र तो वास्तव में लज्जानिवारण के लिए ही थे और हैं, परन्तु लोगों ने इन्हें शृङ्गार की वस्तु समझ लिया है। इस भूल भरी समझ के कारण सर्दी न होने पर भी लोग इतने अधिक अनावश्यक वस्त्र शरीर पर लाद लेते हैं कि बेचारी चमड़ी बेहाल हो जाती है! लोग वस्त्रों के द्वारा अपना झूठा बड़प्पन दिखलाना चाहते हैं। इस भ्रम के कारण भी इतने अनावश्यक वस्त्र पहनते हैं कि भीतर पसीना पैदा होता और वह शरीर में ही समा जाता है। अन्त में इसका दुष्परिणाम यह होता है कि चमड़ी के विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते हैं और इस कारण भावी संतति भी दिन-प्रतिदिन कमजोर होती जाती है।

शहर के लोग जितने कपड़े पहनते हैं उतने ग्रामीण या जंगल में रहनेवाले नहीं पहनते। लेकिन अधिक बीमार कौन होता है? ग्रामीण जन या नागरिक लोग? लोग इस पर विचार कर अपनी भूल सुधार लें तो अब भी गनीमत है। सामायिक-प्रतिक्रमण करते समय वस्त्र उतार देने की पद्धति में भी गंभीर रहस्य छिपा हुआ है। इस साधु के लिए भगवान ने लज्जा की रक्षा करने के लिए ही विधान किया है और वस्त्रों के शौकीन बनने का निषेध ही किया है। इस प्रकार त्वचा का महत्त्व भूल कर कपड़े के ममत्व में पड़जाना और त्वचा को निर्बल बनाना हानिकर है।

[illegible] भी इसी प्रकार की भूल हो रही है। पाच[illegible] न हो [illegible] उसकी परवाह न कर [illegible] नहीं चूकते। नरिद्र और मिट्ट पदा

खाने और पचाने के लिए पाचनशक्ति तैयार है या नहीं, इस बात का विचार कौन करता है? जीभ स्वाद बतलाने वाली है, मगर लोगों ने उसे चटोरी बना दिया है। इस प्रकार का चटोरापन अस्वाभाविक और हानिप्रद है। अगर किसी मनुष्य को एक महीने तक मिठाई पर ही रक्खा जाय, मिठाई के सिवा और कोई चीज खाने को न दी जाय तो क्या वह सिर्फ मिठाई पर ही रह सकेगा? इसके विरुद्ध किसी को सादी दाल-रोटी पर रक्खा जाय तो वह सरलता पूर्वक रह सकेगा या नहीं? मिठाई पर लंबे समय तक नहीं रहा जा सकता, यही बात सिद्ध करती है कि मिठाई शरीर के लिए अनुकूल नहीं है। फिर भी लोग रसलोलुपता के वशवर्ती होकर मिठाई के दोने चाटा करते हैं। आप लोग इस भूल को समझ लें और अपनी जिह्वा को रस लोलुप न बनने दें। उसे काबू में रक्खें।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय-श्रोत्रेन्द्रिय आदि के विषय में भी देखो कि आप इन इन्द्रियों का उपयोग किस ओर कर रहे हैं? भोगोपभोग में इन्द्रियों का उपयोग करना धर्म नहीं है। जो लोग इन्द्रियभोग में धर्म बतलाते हैं, वे भूल में हैं। धर्म तो इन्द्रियों को जीतने में है। इस १६ वें अध्ययन में भी यही बतलाया गया है कि इन्द्रियों को जीतने में ही धर्म है। आप लोग इस अध्ययन को समझो और यदि एकदम अपनी आदत नहीं बदल सकते तो धीरे-धीरे सुधारने का प्रयत्न करो। अगर तुम अपनी आदतों को [illegible] बदल लोगे तो मालूम होगा कि तुम सुखी रहे हो।

कहने का आशय यह है कि जब अपना [illegible] पर बराबर विचार नहीं किया जाता तब इस [illegible] में विपरीत कार्य होते हैं और जब बराबर विचार किया जाता है तो अनुकूल कार्य होने

लगता है। जैसे शरीर का महत्त्व न समझने के कारण शरीरहित के विरुद्ध कार्य होने लगता है, उसी प्रकार शास्त्र का मर्म न समझने के कारण उसके विरुद्ध कार्य हो जाना स्वाभाविक है। अतएव महात्माओं द्वारा शास्त्र का मर्म समझो तो कल्याण होगा।

सम्यक्त्वपराक्रम

उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन का पहला नाम 'सम्यक्त्वपराक्रम' अध्ययन, दूसरा नाम 'अप्रमाद सूत्र' अध्ययन और तीसरा नाम 'वीतरागसूत्र' अध्ययन है।

इन तीन नामों में से मध्य नाम की व्याख्या करने से तीनों नामों की व्याख्या हो जाती है। इसी अभिप्राय से निर्युक्तिकार ने 'अप्रमाद अध्ययन' नाम की ही व्याख्या की है। इस नाम की व्याख्या समझ लेने से विदित होगा कि एक नाम की व्याख्या में ही शेष दो नामों की व्याख्या का समावेश किस प्रकार हो जाता है।

अप्रमाद का अर्थ है—प्रमाद को जीतना। इसके भी चार निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। नाम और स्थापना निक्षेप सुगम हैं। इनका विवेचन न करते हुए टीकाकार द्रव्य और भाव निक्षेपों का विवेचन करते हुए कहते हैं कि द्रव्य अप्रमाद का संबंध तो शरीर से होता है। उदाहरण—पहरा करते और तुम सदा जागते रहे तो कैसा [illegible] होगा? तुम यहाँ बैठे हो, इस समय कोई [illegible]
[illegible]
[illegible]

यह आत्मा द्रव्य-अप्रमत्त अनेकों बार हुआ है और होता ही रहता है। दूसरों की बात जाने दीजिये, रेशम का कीड़ा भी द्रव्य-अप्रमाद का सेवन करता रहता है। रेशम का कीड़ा अपने शरीर की रक्षा के लिए अपना घर साथ-साथ ही लिये फिरता है। इस प्रकार वह क्षुद्र कीड़ा भी अपने शरीर की रक्षा का उद्योग करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं आपको अपने शरीर की रक्षा न करने का उपदेश दे रहा हूँ। मेरे कथन का आशय यह है कि द्रव्य अप्रमाद सर्वानुभव-सिद्ध है और ऐसा अप्रमाद तो मामूली कीड़ा भी सेवन करता है।

शरीर, कुटुम्ब, घर-द्वार तथा धन-दौलत आदि वस्तुओं में से कोई भी वस्तु साथ में परलोक नहीं जाती। उनसे आत्मा का कल्याण भी नहीं होता। फिर भी शास्त्रकार उन चीजों के प्रति उपेक्षा करने का उपदेश नहीं दे रहे हैं। वह सिर्फ यही कहते हैं कि *इनकी रक्षा के लिए किये जाने वाले प्रयत्न या उद्योग को द्रव्य-अप्रमाद ही समझो।* इसे भाव-अप्रमाद मत मानो। द्रव्य अप्रमाद अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ है, फिर भी उससे आत्मा का कल्याण नहीं हुआ। प्रार्थना में कहा है:—

> खल दल प्रबल दुष्ट अति दारुण,
> ज्यों चौ तरफ दियो घेरो।
> तदपि कृपा तुम्हारी प्रभुजी,
> अरियन होय प्रकटे चेरो॥

जब दुष्ट लोग तलवार लेकर घेर लें और मस्तक पर प्रहार करना चाहें, तब उस संकट के समय भी—अगर परमात्मा का स्मरण किया जाय तो शत्रु भी नम्र बन जाते हैं। वे शत्रुता का त्याग क

श्वान की भाँति आज्ञाकारी हो जाते हैं। दुष्ट का नाश न चाहते हुए दुष्ट की दुष्टता का नाश करने के उद्देश से, सच्चे हृदय से परमात्मा की प्रार्थना करने पर दुष्ट की दुष्टता नष्ट हो जाती है। जैसे द्रव्यरक्षा के लिए दूसरे की शरण ली जाती है, उसी प्रकार परमात्मा या धर्म की शरण लेने से द्रव्यरक्षा के साथ ही साथ भावरक्षा भी हो सकती है। मगर यह भूलना नहीं चाहिए कि अगर तुम द्रव्य की रक्षा करोगे तो वह द्रव्य के लिए ही होगी और भाव की रक्षा करोगे तो भाव के लिए होगी।

यह हुई द्रव्यनिद्रा की बात। किन्तु इस अप्रमत्तसूत्र में भाव-अप्रमाद की चर्चा की जायगी। जैसे द्रव्य-अप्रमाद में शरीर, धन आदि के भय को दूर करने की सावधानी की जाती है, वैसे ही भाव-अप्रमाद में आत्मिक भय को निवारण करने के लिए सावधानी रक्खी जाती है। अज्ञान, कषाय आदि विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिए जो उद्योग-प्रयत्न किया जाता है वह भाव अप्रमाद है।

अज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'न ज्ञानम् अज्ञानम्' यह नञ् समास है। नञ् समास के दो भेद हैं। कहा भी है—

> नञर्थौ द्वौ समाख्यातौ, पर्युदासप्रसज्यकौ।
> पर्युदास. सदृशग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत

[illegible]

यहाँ आशय यह है कि ऊपर जो 'न ज्ञानम् अज्ञानम्' कहा गया है सो उसका अर्थ यह नहीं है कि न जानना ही अज्ञान है। एकान्त ऐसा अर्थ करने से अनेक अनर्थ हो सकते हैं। संसार में ऐसे अनेक विद्वान् होते हैं, जिनके एक शब्द से ही संसार में खलबली मच जाती है। किन्तु शास्त्र के अनुसार जिन्होंने कषाय पर विजय प्राप्त नहीं किया है और जिनमें सम्यग्ज्ञान नहीं है, उनका सूक्ष्म से सूक्ष्म और विशाल ज्ञान भी विपरीत ज्ञान ही है। यह विपरीत ज्ञान अज्ञान रूप है। ऐसे स्थानों पर 'न ज्ञानम् अज्ञानम्' जो कहा गया है सो यह नञ् समास पर्युदास रूप है। पर्युदास सदृश अर्थ को ग्रहण करता है। यहाँ पर्युदास नञ्समास न स्वीकार करके प्रसज्य पक्ष स्वीकार करना उचित नहीं है। प्रसज्य नञ्समास में 'अज्ञान' शब्द से ज्ञान का सर्वथा निषेध होता है और यहाँ ज्ञान का निषेध करना अभीष्ट नहीं है। वास्तव में यहाँ 'अज्ञान' शब्द से 'ज्ञान का अभाव' अर्थ अभीष्ट नहीं किन्तु ज्ञान के सदृश 'विपरीत ज्ञान' की गणना अज्ञान में की गई है। अतएव न जानना ही अज्ञान नहीं किन्तु संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि भी अज्ञान रूप ही हैं।

इस प्रकार के अज्ञान को हटाने के लिए जो उद्योग किया जाता है वह भाव अप्रमाद है। ऐसा अज्ञान सम्यग्ज्ञान से ही मिट सकता है। अगर कोई मनुष्य लाठी मार-मार कर अंधकार को हटाना चाहे तो क्या अंधकार हट जायगा ? नहीं। हाँ यदि प्रकाश किया जाय तो अंधकार अवश्य मिट जायगा। इसी प्रकार अज्ञान-अंधकार भी ज्ञान के प्रकाश से ही दूर हो सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में ज्ञान के प्रकाश का ही मार्ग बतलाया गया है। अतएव यह अध्ययन भाव अप्रमाद से ही सम्बन्ध रखता है।

इस अध्ययन में ज्ञान का मार्ग प्रकाशित करने के बाद ही कषाय को जीतने का भी मार्ग बतलाया गया है। आत्मा के असली स्वरूप को भूल कर पर पदार्थ में आनन्द मानना आस्रव है। इस अध्ययन में आस्रव को जीतने के लिए अप्रमत्त रहने का मार्ग प्रतिपादन किया गया है। यों तो चौथे गुणस्थान से ही अप्रमाद गुणस्थान आरम्भ हो जाता है परन्तु शास्त्र में सातवें गुणस्थान से ही अप्रमाद स्वीकार किया गया है; क्योंकि चौथे आदि गुणस्थानों में कषाय की कुछ-कुछ तीव्रता रहती है। यद्यपि सातवें गुणस्थान में भी थोड़ा (संज्वलन) कषाय मौजूद रहता है; फिर भी वह इतना हल्का होता है कि उसकी गणना नहीं की गई। तनिक भी असावधानी न रखते हुए आस्रव को जीतने का प्रयत्न करना अप्रमत्तता है। इस प्रकार की अप्रमत्तता सातवें गुणस्थान पर आरूढ़ होने से ही प्राप्त होती है।

राग-द्वेष को उत्पन्न करना प्रमाद है और उन्हें जीतना अप्रमाद है। अगर तुम अप्रमाद प्राप्त करना चाहते हो तो राग-द्वेष को जीतो। पूछा जा सकता है कि राग-द्वेष को किस प्रकार जीतना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि इस अध्ययन में राग-द्वेष को जीतने का ही उपाय बतलाया गया है। तुम अभी तक राग-द्वेष को नहीं जीत सके हो तो न सही, मगर इतना तो मानो कि राग-द्वेष प्रमाद है और उन्हें जीतना अप्रमाद है। तुम्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि राग-द्वेष त्याज्य है परन्तु अपनी निर्बलता के कारण मैं अभी तक उन पर विजय प्राप्त नहीं कर सका हूँ। इस प्रकार राग-द्वेष का स्वरूप समझो। राग और द्वेष से आत्मा का पतन होता है। अगर तुम आत्मा का पतन नहीं चाहते तो राग-द्वेष का स्वरूप समझकर उन्हें त्याज्य समझो।

राग-द्वेष के अनेक रूप हैं। कई बार ऐसा होता है कि बाहर से राग-द्वेष प्रतीत होते हैं किन्तु भीतर और ही कुछ होता है। इसी प्रकार कभी-कभी बाहर से राग-द्वेष प्रतीत नहीं होते फिर भी भीतर राग-द्वेष भरे रहते हैं। ऐसी स्थिति में राग-द्वेष हैं या नहीं, इस बात का निश्चय ज्ञानी ही कर सकते हैं। फिर भी व्यवहार द्वारा जिस राग-द्वेष को पहचाना जा सकता है, उन्हें पहचानने का प्रयत्न तुम्हें करना चाहिए और पहचान कर छोड़ने का उद्योग करना चाहिए।

जो आत्मा को पतित करे और साथ ही जगत् का भी अकल्याण करे वह राग-द्वेष है। इन लक्षणों से राग द्वेष की पहचान हो जाती है। अतएव जिन कार्यों से जगत् को हानि पहुँचे और आत्मा पतित हो, ऐसे कार्य त्याज्य समझने चाहिए। इसी प्रकार वही कार्य राग-द्वेष रहित हैं जिनसे अपनी आत्मा उन्नत हो और जगत् का भी कल्याण हो।

कदाचित् कोई यह दावा करे कि मुझमें विशेष ज्ञान है और अमुक कार्य या क्रिया किये बिना ही सिर्फ ज्ञान द्वारा ही मैं आत्मा का कल्याण कर लूँगा; तो शास्त्र बतलाता है कि उसका यह दावा सही नहीं है। मान लिया जाय कि कोई ज्ञान द्वारा अपना कल्याण कर सकता है, यद्यपि अकेले ज्ञान से सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती, तो भी लोकहित की दृष्टि से भयङ्कर कार्यों का त्याग कर देना ठीक है। मतलब यह है कि जिससे आत्मा का भी कल्याण हो और जगत् का भी हित हो, वह व्यावहारिक दृष्टि से राग-द्वेष को जानना कहलाता है। अतः सफलता प्राप्त करने के लिए राग-द्वेष को जानना ही चाहिए।

अब इस अध्ययन के नाम के सम्बन्ध में विचार करें। कोई-कोई नाम सिर्फ लोकव्यवहार के लिए ही होता है। उसमें गुण की अपेक्षा नहीं रहती। और कोई नाम गुणनिष्पन्न भी होता है। इस अध्ययन का अप्रमत्त नाम गुणनिष्पन्न है। पहले के लोग गुण-निष्पन्न नाम रखते थे, आजकल की तरह खोटे नाम नहीं। कदाचित् तुम खोटा भी नाम रख सकते हो मगर शास्त्र ऐसी भूल किस प्रकार कर सकता है? अतएव प्रस्तुत अध्ययन का अप्रमत्त नाम गुण-निष्पन्न ही है।

खोटा नाम कैसा होता है और गुणनिष्पन्न नाम में उससे क्या अन्तर होता है, यह बात समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए :—

एक सेठ का नाम ठनठनपाल था। नाम ठनठनपाल होने पर भी वह बहुत धनवान था और उसकी बहुत अच्छी प्रतिष्ठा भी थी।

प्राचीन काल के श्रीमन्त, श्रीमन्त होने पर भी अपना कोई काम छोड़ नहीं बैठते थे। आज ज़रा-सी लक्ष्मी प्राप्त होते ही लोग सब काम छोड़छाड़ कर बैठ रहते हैं और ऐसा करने में ही अपनी श्रीमन्ताई समझते हैं।

ठनठनपाल सेठ की पत्नी सेठानी होने पर भी पानी भरना, आटा पीसना, कूटना आदि सब घर का काम-काज अपने हाथों करती थी। अपने हाथ से किया हुआ काम जितना अच्छा होता है, उतना अच्छा दूसरे के हाथ से करवाया काम नहीं होता। परन्तु आजकल बहुत से लोग धर्मध्यान करने के बहाने हाथ से घर का काम करना छोड़ देते हैं। उन्हें यह विचार नहीं आता कि धर्मध्यान करने वाला

व्यक्ति क्या कभी आलसी बन सकता है ? जो कार्य अपने ही हाथ से भलीभाँति हो सकता है, शास्त्रकार उसके त्याग करने का आदेश नहीं देते। तुम स्वयं जो काम करोगे, विवेकपूर्वक करोगे; दूसरे से ऐसे विवेक की आशा कैसे रक्खी जा सकती है ? इस प्रकार अपने हाथ से विवेकपूर्वक किये गये काम में एकान्त लाभ ही है। स्वयं आलसी बनकर दूसरे से काम कराने में विवेक नहीं रहता और परिणामस्वरूप हानि होती है।

आजकल बिजली द्वारा चलने वाली चक्कियाँ बहुत प्रचलित हो गई हैं और हाथ की चक्कियाँ बन्द होती जा रही हैं। क्या घर की चक्कियाँ बन्द होने के कारण यह कहा जा सकता है कि आरम्भ थोड़ा हो गया है ? घर की चक्कियाँ बन्द करने से तुम निरारम्भी नहीं हुए हो परन्तु उलटे महापाप में पड़ गये हो। घर की चक्की और बिजली की चक्की का अन्तर देखोगे तो अवश्य मालूम हो जायगा कि तुम किस प्रकार महापाप में पड़ गये हो। विचार करोगे तो हाथ चक्की और बिजली की चक्की में राई और पहाड़ जितना अन्तर प्रतीत होगा। बिजली से चलने वाली चक्की से व्यवहार और निश्चय—दोनों की हानि हुई है और साथ ही साथ स्वास्थ्य की भी हानि हुई है और हो रही है। पुराने लोग मानते हैं कि डाकिनी लग जाती है और जिस पर उसकी नजर पड़ जाती है उसका वह सत्व चूस लेती है। डाकिनी की यह बात तो गलत भी हो सकती है परन्तु बिजली से चलने वाली चक्की तो डाकिनी से भी बढ़कर है। वह अनाज का सत्व चूस लेती है यह तो सभी जानते हैं। बिजली की चक्की में पिसाया हुआ आटा कितना ज्यादा गरम होता है, यह देखने पर विदित होगा कि आटे का सत्व भस्म हो गया है।

दक्षिण में उरण नामक एक गाँव समुद्र के किनारे बसा है। वहाँ मछली पकड़ने का काम खूब चलता है। वहाँ का एक भाई मुझसे कहता था—'मैं एक दिन आटा पिसवाने के लिए फ्लोर मिल में गया। मैंने वहाँ देखा कि मच्छीमारों की स्त्रियाँ जिस टोकरी में मछलियाँ बेचती थीं, उसी टोकरी में अनाज भरकर पिसाने आई थीं।' अब जरा विचार करो कि तुम भी उसी चक्की में आटा पिसवाते हो तो मछलियों की टोकरी में भरे अनाज के दानों का थोड़ा बहुत आटा तुम्हारे आटे में नहीं आता होगा? तुम और-और बातों में तो सावधान रहते हो, परन्तु ऐसी बातों पर ध्यान नहीं देते। तुम्हारा कोई स्वधर्मी भाई, जो गरीब होने के कारण कपड़े की फेरी करता है या खेती करता है, वह तुम्हारी ही जाति का हो तो भी उसे साथ जिमाने में परहेज करते हो, परन्तु फ्लोर-मील में सेलभेल हुए आटे का उपभोग करने में कोई परहेज नहीं करते! यह कितना अंधेर है।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज के मुखारविंद से मैंने सुना है कि बीकानेर में वैद मुहता हिंदूसिंहजी दीवान थे। वह स्थानकवासी जैन थे। बीकानेर में उनकी खूब प्रतिष्ठा थी और राजदरबार में भी बड़ी इज्जत थी। एक बार दीवान साहब भोजन करने बैठे ही थे कि एक घी की फेरी करने वाला वणिक आया। उसने दीवान साहब से कहा—'क्या आप घी खरीदेंगे? हिंदूसिंहजी ने उसे देखकर अनुमान किया कि यह कोई महाजन ही है। इस प्रकार अनुमान करके उसे अपने पास बुलाया और पूछा—'भाई कहाँ रहते हो?' घी वाले ने [illegible] बतला दिया। दीवान ने कहा—'उस गाँव में [illegible] रहता है वहाँ वैद मुहता का घर है न [illegible] यह [illegible] पर बकता [illegible] और [illegible]

लगा–आप इतने बड़े आदमी हो कर भी हमें याद रखते हैं, यह बड़े ही आनन्द की बात है। हिंदूसिंहजी समझ गये कि यह घी-विक्रेता भी वैद मुहता गोत्र का ही है। तब दीवान ने उससे कहा—'अच्छा भाई, आओ थोड़ा भोजन करलो'। घी वाला उनके साथ भोजन करने में संकोच करने लगा, पर उन्होंने कहा—'अरे भाई, इसमें लजाने की क्या बात है? तुम्हारे मेरे भाई हो'। आखिर दोनों ने एक ही थाल में भोजन किया और दीवान ने आग्रह करके उसे बढ़िया-बढ़िया भोजन जिमाया।

दीवान के इस कार्य से उसका महत्व घटा या बढ़ा? सुना जाता है कि यहाँ (जामनगर में) अपने सहधर्मी भाइयों के साथ भेदभाव रक्खा जाता है। सहधर्मी भाइयों में भेद डालने वाले किसी भी विधान को स्वीकार करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है? खेती करने वाले गरीब सहधर्मी भाइयों के साथ इस तरह का भेदभाव रक्खा जाता है परन्तु उनके द्वारा उत्पन्न किये अनाज के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाता! गरीब भाइयों द्वारा उत्पन्न किया अनाज खाना छोड़ दो तो पता चलेगा कि उनके प्रति भेदभाव रखने का क्या नतीजा होता है! आज दूसरे लोग तो अछूतों को भी स्पृश्य बनाते जा रहे हैं और तुम अपने ही जाति भाइयों को दुरदुरा रहे हो! तुम उनके साथ भी परहेज करते हो! वह तो जैन हैं, तुम्हारी ही जाति के हैं और यहाँ आकर धर्मक्रिया भी करते हैं। परन्तु वह भी तुम्हारे साथ भोजन करने नहीं पा सकते! भला वह लोग इस प्रकार का अपमान कैसे सहन कर सकते हैं? ऐसी स्थिति में अपने सहधर्मी के लिए या अपने धर्म के लिए कष्ट सहन करना पड़े तो सह लेना उचित है, किन्तु इस विधान को बद-

लना आवश्यक है। इस प्रथा को मिटाने के लिए अगर कुछ कष्ट भी सहना पड़े तो ऐसा कष्ट-सहन कोई बुरी बात नहीं है।

सारांश यह है कि लोग अपने हाथ से काम न करके दूसरों से काम कराने में अपनी महत्ता मानते हैं। उन्हें इस बात का विचार ही नहीं है कि अपने हाथ से और दूसरे के हाथ से काम कराने में कितना ज्यादा अन्तर है।

ठनठनपाल श्रीमान था, फिर भी उसकी पत्नी पीसना, कूटना आदि काम अपने ही हाथ से करती थी। किन्तु जब वह अपनी पड़ोसिनों से मिलती तो पड़ोसिनें उसकी हँसी करने के लिए कहतीं—'पधारो श्रीमती ठनठनपालजी!' ठनठनपालजी की पत्नी को यह मजाक रुचिकर नहीं होता था।

एक दिन इस मजाक से उसे बहुत बुरा लगा। वह उदास हो कर बैठी थी कि उसी समय सेठ ठनठनपाल आ गये। अपनी पत्नी को उदास देखकर उन्होंने पूछा—'आज उदास क्यों दिखाई देती हो?' सेठानी बोली- तुम्हारा यह नाम कैसा विचित्र है! तुम्हारे नाम के कारण पड़ोसिनें मेरी हँसी करती हैं। तुम अपना नाम बदल क्यों नहीं डालते? ठनठनपाल ने कहा—मेरे नाम से सभी लेनदेन चल रहा है। अब नाम बदल लेना सरल बात नहीं है। कैसे बदल सकता हूँ? उसकी पत्नी बोली—'जैसे बन तैसे तुम्हें यह नाम तो बदलना ही पड़ेगा। नाम न बदला तो मैं अपने मायके चली जाऊँगी।' ठनठनपाल ने कहा—मायके जाना है तो अभी चली जा। मगर मैं अपना नाम नहीं बदल सकता। तब जैसे ठनठन [illegible] मायके चली जाने [illegible] क्या है।

ठनठनपाल की स्त्री रूठ कर मायके चली। वह नगर के द्वार पर पहुँची कि कुछ लोग एक मुर्दे को उठाये वहाँ से निकले। सेठानी ने उनसे पूछा-'यह कौन मर गया है ?' लोगों ने उत्तर दिया-'अमरचन्द भाई का देहान्त हो गया है।' यह सुनकर सेठानी सोचने लगी—'अमरचन्द नाम होने पर भी वह मर गया ! उसके पैर बड़े भारी हो गये, फिर भी वह हिम्मत करके आगे बढ़ी। कुछ आगे जाने पर उसे एक गुवाल (गाय चराने वाला) मिला। सेठानी ने उसका नाम पूछा। उत्तर मिला—मेरा नाम धनपाल है। सेठानी सोचने लगी—यह धनपाल है या पशुपाल ? सोच-विचार में डूबी सेठानी थोड़ी और आगे बढ़ी। वहाँ एक स्त्री छाणा (कंडा) बीनती दिखाई दी। सेठानी ने उससे पूछा—बहिन तुम्हारा क्या नाम है ? उसने उत्तर दिया—'लक्ष्मीबाई।' यह नाम सुनकर सेठानी को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह सोचने लगी—नाम है इसका लक्ष्मी बाई और बीनती फिरती है कंडा !

यह सब विचित्र घटनाएँ देखकर सेठानी का दिमाग ठिकाने आया। वह घर लौट आई। सेठ ने कहा—'आज तो कुछ समझ आ गई दीखती है। मगर कल जैसा तूफान तो नहीं मचाओगी ?' सेठानी बोली—अब मैं समझ गई हूँ। सेठ के पूछने पर वह बोली—

> अमर मरंता मैंने देखे, ढोर चरावे धनपाल ।
> लक्ष्मी छाणा बीनती, धन धन ठनठनपाल ॥

कहने का आशय यह है कि लोक में इस प्रकार के अर्थहीन नाम भी पाये जाते हैं। इस आधार पर नाम के विषय में इस प्रकार चौभंगी बन जाती है —

(१) नाम सुन्दर हो मगर गुण सुन्दर न हो।

(२) गुण सुन्दर हो पर नाम सुन्दर न हो।

(३) नाम भी सुन्दर हो और गुण भी सुन्दर हो।

(४) नाम भी सुन्दर न हो और गुण भी सुन्दर न हो।

यह अध्ययन तीसरे भंग में गर्भित होता है। इस अध्ययन का नाम भी सुन्दर है और गुण भी सुन्दर है। इसका नाम गुणनिष्पन्न है। सम्यक्त्वपराक्रम और वीतरागसूत्र, यह दोनों नाम भी अप्रमत्त अध्ययन नाम के समान ही गुणनिष्पन्न हैं। क्योंकि अप्रमत्तता से ही सम्यक्त्व-पराक्रम होता है और वीतरागता भी इसी से प्राप्त होती है। अतएव यह तीनों नाम भी गुणनिष्पन्न ही हैं।

यद्यपि इस अध्ययन के पूर्वोक्त तीनों ही नाम संगत हैं, तथापि निर्युक्तिकार ने इसे विशेषतः अप्रमत्त अध्ययन ही कहा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सम्यक्त्व में पराक्रम करना या अप्रमत्त बनना एक ही बात है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को प्राप्त करने का उद्योग करना भी एक ही बात है। इस प्रकार की अप्रमत्तता प्राप्त करने का फल क्या है, यह बात इस अध्ययन के ७३ बोलों में बतलाई गई है। यहाँ सिर्फ यही कहना पर्याप्त है कि उक्त तीनों नाम सगत हैं। [illegible] उद्योग करते हैं वह वीतरागता [illegible] प्राप्त करते हैं। अतएव वीतरागसूत्र नाम भी [illegible] है।

[illegible]

ही ६५५३६ बार जन्म लेता है और मरता है और उद्योग करता
रहता है। किन्तु वह उद्योग वीतरागता प्राप्त करने के लिए नहीं है
प्रमाद का त्याग करके जो उद्योग किया जाता है, वही वीतराग
प्राप्त करने के लिए किया हुआ उद्योग कहलाता है। इस प्रकार इ
अध्ययन का 'वीतरागसूत्र अध्ययन' नाम भी ठीक है।

अध्ययन का आरम्भ

इस अध्ययन को आरम्भ करते हुए कहा गया है:—

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नामज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइयं।

यह सूत्र पाठ है। इस सूत्रपाठ में मंगलवचन क्या है, यह देखना चाहिये। साधारण रूप से सूत्र की आदि में, मध्य में और अन्त में मंगलाचरण करने का नियम है, परन्तु यह अध्ययन स्वयं ही मंगल रूप है अर्थात् भगवान् की वाणी ही है। अतएव यहाँ अलग मंगलाचरण करने की आवश्यकता नहीं है। इस सूत्रपाठ में सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं-'हे आयुष्मन्! मैंने भगवान महावीर से जो सुना है वह तुम्हे सुनाता हूँ।'

सुधर्मा स्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धनी थे। [illegible] जम्बू स्वामी से कहते हैं कि भगवान [illegible] [illegible] [illegible]

सकते थे ? वह सूत्र भी रच सकते थे और कह भी सकते थे। फिर भी उन्होंने एक लघु व्यक्ति की तरह क्यों कहा कि मैंने भगवान से जो सुना है वही सुनाता हूँ ? यह लघुता उन्होंने किसलिए धारण की ! यद्यपि ठीक ठीक यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा करने का उद्देश्य क्या था, तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस प्रकार की नम्रता और निरभिमानता रखने वाला कभी दुःख में नहीं पड़ता। अभिमान ही संसार में लोगों को खराब करता है। सुधर्मा स्वामी में ऐसा अभिमान ही नहीं रहा था।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा—'मैंने भगवान महावीर से जो सुना है, वही तुझे सुनाता हूँ।' इस कथन का उद्देश्य यह बतलाना भी हो सकता है कि भगवान् की पाट-परम्परा किस प्रकार चली आ रही है।

शास्त्रों द्वारा हमें ज्ञात है कि चौदह हजार साधुओं में गौतम स्वामी सब से बड़े थे और सुधर्मा स्वामी उनसे छोटे थे। ऐसा होने पर भी भगवान् के पाट पर गौतम स्वामी विराजमान नहीं हुए। इसका कारण यही मालूम होता है कि भगवान् का निर्वाण होते ही गौतम स्वामी केवलज्ञानी हो गये थे। केवलज्ञानी होने के कारण गौतम स्वामी की योग्यता कुछ कम नहीं हो गई थी, फिर उन्हीं को पाट पर क्यों नहीं बिठलाया गया ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाट पर बिठलाने में योग्यता का प्रश्न नहीं था किन्तु पाट-परम्परा का प्रश्न था। पाट-परम्परा तभी चल सकती है जब गुरु-शिष्य की परम्परा बराबर चलती रहे और शिष्य सूत्रादि के संबंध में यह कहता रहे कि 'मैंने अपने गुरु से इस प्रकार सुना है', अगर गौतम स्वामी इस प्रकार कहते कि मैंने गुरु से ऐसा सुना है, तो उनके

केवलीपन में बाधा उपस्थित होती। केवली को अपना स्वतन्त्र मत स्थापित करना चाहिए अर्थात् अपना ही निर्णय देना चाहिए। कदाचित् गौतम स्वामी अपनी ही तरफ़ से कहते और भगवान महावीर से सुनने का उल्लेख न करते तो ऐसा करने से भगवान की परम्परा भंग हो जाती। इसी कारण सुधर्मा स्वामी को पाट पर विराजमान किया गया था। इस प्रकार सुधर्मा स्वामी ने भगवान के पाट पर बैठ कर जो कुछ कहा, वह सब भगवान के ही नाम पर कहा है।

उस समय के संघ का प्रबन्ध कितना उत्तम था और गुरुपरम्परा कायम रखने के लिए कितना ध्यान दिया जाता था! यह ध्यान देने योग्य है। सुधर्मा स्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के स्वामी थे और भगवान के निर्वाण के पश्चात् उनके पाट पर बैठ कर इच्छानुसार कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया, वरन् गुरुपरम्परा सुरक्षित रक्खी। ऐसे युगप्रधान महापुरुष ही अपना और पराया कल्याण कर सकते हैं।

हम और आप आत्मा का कल्याण करने के लिए ही यहाँ एकत्र हुए हैं; परन्तु आत्मकल्याण के लिए सर्वप्रथम अहंकार को तिलाञ्जलि देने की आवश्यकता है। अहंकार का त्याग किये बिना आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। अहंकार का त्याग करने के [illegible] सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा कि मैंने भगवान महावीर से जो सुना है वही तुम्हें सुनाता हूँ। सुधर्मा स्वामी के यह वचन सुनकर, जम्बू स्वामी के मन में कैसा भाव उत्पन्न हुआ होगा? उनके हृदय में अपने गुरु के प्रति बहुमान उत्पन्न हुआ होगा [illegible]

पाटपरम्परा का कैसा विचार-विवेक रखते हैं ! और उनमें कैसी नम्रता और निरभिमानता है ।

'मैंने भगवान् से इस प्रकार सुना ।' सुधर्मा स्वामी के इस कथन का एक कारण यह भी हो सकता है कि सुधर्मा स्वामी छद्मस्थ थे । छद्मस्थ से किसी बात में भूल भी हो सकती है, परन्तु केवलज्ञानी भगवान की वाणी में तो किसी भूल की सम्भावना ही नहीं है । छद्मस्थ की बात पर संदेह भी किया जा सकता है किन्तु भगवान की बात पर संदेह करने का कोई कारण नहीं । इसी अभिप्राय से सुधर्मा स्वामी ने कहा है कि 'मैंने भगवान से जो सुना है, वही तुम्हें सुनाता हूँ ।' इस कथन से किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश ही नहीं रहती ।

मान लीजिये, एक मनुष्य अपनी जीभ से सौ बातें कहता है और दूसरा आदमी एक ही बात कहकर उसके प्रमाण में शास्त्र का वचन बतलाता है । ऐसी स्थिति में किसकी बात प्रामाणिक मानी जायगी ? श्रावक तो वही बात मान सकता है जो शास्त्र-सम्मत है । शास्त्र से विरुद्ध मानने वाला श्रावक तो क्या सम्यग्दृष्टि भी नहीं हो सकता । इसी प्रकार सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से जो कुछ कहा है, वह भगवान के नाम पर कह कर उसे प्रमाणभूत बना दिया । अर्थात् सुधर्मा स्वामी ने कहा कि मैं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहता । मैं जो कुछ कहता हूँ, भगवान का कहा ही कहता हूँ । यह कह कर सुधर्मा स्वामी ने अपना कथन प्रामाणिक सिद्ध कर दिया ।

आज कहाँ भगवान महावीर, कहाँ सुधर्मा स्वामी ! और जम्बू स्वामी और कहाँ आज से भगवान अढ़ाई हजार वर्ष पुराने [illegible] [illegible] जो शास्त्रवचन हमें ... [illegible] है, यह हम लोगों का कितना सद्भाग्य है ! न जाने कि...

जन्म-मरण करने के पश्चात् हम लोगों को यह मनुष्यजन्म मिला है और इसमें भी आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल और जैनधर्म प्राप्त करने का सुयोग मिला है। आज हम लोगों को जिनवाणी सुनने का यह सुअवसर प्राप्त हुआ है। यह क्या कम सौभाग्य की बात है ?

सुधर्मा स्वामी ने कहा है—'मैंने भगवान् से ऐसा सुना है।' इस कथन का एक कारण यह भी हो सकता है कि उन सूत्रवचन पर आदरभाव उत्पन्न हो और सूत्रश्रवण करना सौभाग्य की बात समझी जाय। सुधर्मा स्वामी के यह वचन सुनकर शिष्य को अवश्य ही कर्त्तव्य का भान हुआ होगा। उसने सोचा होगा - चार ज्ञान और चौदह पूर्व के स्वामी होते हुए भी यह महानुभाव अपनी बात नहीं सुनाते वरन् गुरुपरम्परा ही सुनाते हैं; तो मेरा कर्त्तव्य क्या होना चाहिए ? इन गुरु महाराज का मुझ पर अनंत उपकार है, अतएव मुझे भी ऐसा ही कहना चाहिए कि—मैंने भी अपने गुरु से इस प्रकार सुना है।

इस प्रकार गुरु द्वारा सुनी हुई बात कहने से और गुरु-परम्परा सुरक्षित रखने से ही यह सूत्र आज हम लोगों को इस रूप में उपलब्ध हो सका है। भगवान् से सुधर्मा स्वामी ने यह सूत्र सुना, सुधर्मा स्वामी से जम्बू स्वामी ने सुना और जम्बू स्वामी से प्रभव स्वामी ने यही सूत्र सुना। इस प्रकार क्रमशः गुरुपरम्परा से चलता आने के कारण ही भगवान् की यह वाणी आज भी विद्यमान है।

यह भगवान् की वाणी है ऐसा कहने का एक कारण और भी है। पहले के ज्ञानी जन यह जानते थे कि आगे पंचम काल आ रहा है और वह अत्यन्त विषम है। पंचम काल में [illegible] के कारण अनेक प्रकार के [illegible] [illegible]। ऐसा [illegible] उन्होंने वचन

काल को किञ्चित् सरल बनाने के उद्देश्य से सूत्र का यह मार्ग खोल दिया है। किन्तु सूत्र का मार्ग खोलते हुए उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि यह मार्ग हमारा बतलाया नहीं है, वरन् जगत् का कल्याण करने वाले भगवान महावीर द्वारा प्रदर्शित यह मार्ग है। उन करुणासागर महावीर प्रभु की यह कैसी असीम करुणा है! इस पंचम काल में यों तो अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित होंगी, परन्तु जगत् का कल्याण करने वाली बात की निशानी याद रखना कि जो बात भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से कही थी, सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कही थी, वही बात कल्याणकारिणी है। यह बात स्मरण रखने से तुम कभी किसी के धोखे में नहीं आओगे।

जैसे राजमार्ग विश्राम के योग्य माना जाता है, उसी प्रकार भगवान का बतलाया हुआ यह राजमार्ग भी विश्राम के योग्य है। भगवान का यह राजमार्ग कल्याण का मार्ग है, ऐसा विश्वास रख कर इसी पर चलते चलो तो अवश्य ही तुम्हारा कल्याण होगा।

सुधर्मा स्वामी ने कहा है—'मैंने भगवान् से ऐसा सुना है', तो सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि भगवान कौन है? और भगवान् का अर्थ क्या है? भगवान शब्द 'भग्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'भग' का अर्थ इस प्रकार है:—

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः।
> वैराग्यस्याथ मोक्षस्य, षण्णां भग इतीङ्गना॥

अर्थात्—ऐश्वर्य सम्पूर्ण रूप, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष, यह छह गुण हों वह भगवान कहलाता है।

जिस व्यक्ति में उपर्युक्त छह गुण हों, वह भगवान् कहलाता है। भगवान् महावीर में यह सब गुण विद्यमान थे, इसी कारण उन्हें भगवान कहते हैं। ऐसे भगवान की वाणी अपनी आत्मा का कितना उपकार करने वाली है, इस बात का विचार करो और यह वचन सुनकर आत्मा को जागृत करो, प्रेरित करो और बलवान् बनाओ। ऐसा अवसर बार-बार मिलना कठिन है।

'भज कल्दारं भज कल्दारं भज कल्दारं मूढ़मते !'

अर्थात्—आजकल कल्दार (रुपया) का बल माना जाता है, परन्तु कल्दार के बल में क्या दुःख समाया हुआ नहीं है ? मान लीजिए, आपके जेब में पचास हजार के नोट हैं। आप इन नोटों के बल पर अपने को सराफ मानते हैं। आपके इन नोटों का पता किसी दूसरे को चल गया। उसने विचार किया—पाप किये बिना तो पैसा आता नहीं है, फिर इस नोट वाले को मार कर उसके नोट क्यों न ले लूँ ? दूसरे मनुष्य ने इस प्रकार विचार किया। उसी समय तीसरा मनुष्य आता है और दूसरे से कहता है—'अगर तुम्हें पैसे की आवश्यकता है तो और कोई उद्योग कर। पैसे छीनने के लिए इसे मारने का विचार मत कर।' अब आपको इन दोनों में से कौन मनुष्य भला मालूम होगा ? जो तुम्हें मारकर पैसा छीन लेना चाहता है वह तुम्हें अच्छा लगेगा या तुम्हें न मारने के लिए कहने वाला और पैसे के लिए अन्य उद्योग करने का उपदेश देने वाला अच्छा लगेगा ? तुम्हें मारने का नहीं कहने वाला ही अच्छा लगेगा [illegible] वह [illegible] है।

[illegible] है कि [illegible] है, [illegible]

तुम्हें तो नोट बचाने वाला अच्छा लगता है, परन्तु तुम स्वयं क्या करते हो, यह भी तो देखो। हम साधु तुमसे यही कहते हैं कि तुम भी पराया धन मत लूटो और दूसरे के अधिकार की चीज पर जबरदस्ती अपना अधिकार मत जमाओ।

कहा जा सकता है कि गृहस्थों को तो पैसे का बल चाहिए ही। कदाचित् यह बात सत्य हो तो भी हमेशा ध्यान में रक्खो कि पैसा तुम्हारा हो और तुम पैसे के हो रहो, यह दोनों बातें अलग-अलग हैं। पैसे को अपने अधीन रखना एक बात है और स्वयं पैसे के अधीन हो जाना दूसरी बात है। अपने विषय में विचार करो कि पैसा तुम्हारे अधीन है या तुम पैसे के अधीन हो? अगर तुम पैसे के अधीन न होओगे और पैसा तुम्हारे अधीन होगा तो तुम पैसे से सत्कार्य किये बिना रह ही नहीं सकते। अतएव गृहस्थों के लिए अगर पैसे का बल आवश्यक ही समझा जाता हो तो भी इतना अवश्य खयाल रक्खो कि तुम स्वयं पैसे के अधीन न बन जाओ। पैसे के कारण अभिमान धारण न करो। गाँठ में पैसा हो तो विचार करो कि मैंने न्याय-नीति और प्रामाणिकता से यह धन उपार्जित किया है, अतः इसका उपयोग किसी सत्कार्य में हो जाय तभी मेरा धनोपार्जन करना सार्थक है। आपके मन में ऐसा विचार आना अच्छा है। इसके विपरीत कदाचित् आप यह विचार करने लगें कि

> पैसो म्हारो म्हाओ भाई पैसो म्हारो म्हाओ माई।
> साचो छे सारो संसार, कलमा कीजो सर्वो टगाई।
> दाम बिना तो मात पूछत पूछें सकल समार।
> [illegible]
> [illegible]
> [illegible]

बिना ही गहने उतार दिये। जाट ने कहा—'यह तो ठीक है, मगर घर में पानी नहीं है। तुझे जाना ही है तो आज एक घड़ा पानी तो ला दे।' जाटिनी ने विचार किया—अगर एक घड़ा पानी भर देने से ही छुटकारा मिलता है तो भर देने में क्या हर्ज है? ऐसा विचार कर वह पानी भरने गई। इधर जाट हाथ में डंडा लेकर चौराहे पर जा पहुँचा। ज्यों ही जाटिनी पानी का घड़ा लिए वहाँ पहुँची कि जाट ने हो-हल्ला मचा दिया। वह चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा—'बस, तू यहीं से लौट जा। घर की तरफ एक भी कदम मत रखना।' तमाशा देखने के लिए बहुतेरे लोग इकट्ठे हो गये। किसी किसी ने पूछा—'भाई बात क्या है?' जाट ने स्पष्टीकरण किया—'मुझे ऐसी स्त्री नहीं चाहिए।' जाटनी ने कहा—'मैं तुम्हारे पास रहना ही कहाँ चाहती थी।' जाट बोला—'बस, तू मेरे घर में रहने लायक ही नहीं है। यहाँ से अब एक कदम भी घर की तरफ मत रख। जहाँ तेरा जी चाहे चली जा।'

मतलब यह है कि जाट की स्त्री तो जाना ही चाहती थी और गई सो सही, मगर लोगों में यह प्रसिद्ध हो गया कि जाट ने स्वयं अपनी स्त्री का परित्याग कर दिया है। ऐसा करके जाट [illegible] मान में बच गया और उसका दुःख भी जाता रहा।

इस उदाहरण का [illegible] लेकर हम अपने विषय में विच[illegible] [illegible] वस्तुओं [illegible] है? [illegible] वस्तुएँ [illegible] वस्तुओं का [illegible] इन दोनों [illegible] समझ [illegible]

[illegible]

वह धर्म की नौका तैयार है। संसार के मोह में न फँसकर धर्म
पर आरूढ़ हो जाओ तो तुम्हारा कल्याण होगा और हमारे
नाविक का भार हलका होगा। हम लोग सहज ही तुम्हें मिल
हैं, मगर सहज ही मिली हुई प्रत्येक चीज की कीमत कुछ कम
होती। कान सहज ही मिले हैं पर क्या कान की कीमत मोती से
है? नहीं। इसी प्रकार भले ही हम सहज ही तुम्हें मिल ग
तथापि हमारे कथन का—जो परम्परा से चला आया है—
समझो और अपना कल्याण करो।

श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं। इह
सम्मत्तपरक्कमे नामज्झयणे समणेणं भगवया महा
कासवेणं पवेइयं। जं सम्मं सद्दहित्ता, पत्तइत्ता, रोय
फासित्ता, पालइत्ता, तीरित्ता, सोहइत्ता, आराहित्ता, आ
अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति,
निव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

श्री सुधर्मा स्वामी ने इस सूत्र में जो कुछ कहा है [illegible]

[illegible]

तीसरा प्रातिहार्य भगवान की दिव्य वाणी है।

चौथा प्रातिहार्य चामरों का ढुरना है। भगवान् के ऊपर आप ही आप चमर ढुरते रहते हैं। भगवान् के चलने पर आकाश में स्थित होकर चामर ढुरते हैं। भगवान् जब कहीं स्थित होते हैं तब जमीन पर स्थित होकर चमर ढुरते हैं।

पाँचवाँ प्रातिहार्य—भगवान् जब चलते हैं तब उनके साथ आकाश में सिंहासन भी चलता है और जहाँ भगवान् विराजते हैं, वहाँ सिंहासन भी स्थित हो जाता है और उस सिंहासन पर भगवान् विराजते हैं; ऐसा जान पड़ता है।

छठा प्रातिहार्य—भगवान् के मुख-कमल के आसपास भामंडल रहता है, जिससे भगवान का तेज अत्यंत बढ़ जाता है और भगवान का दर्शन होते ही दर्शनकर्त्ता प्रभावित हो जाता है। आजकल के वैज्ञानिकों का भी कथन है कि विशिष्ट पुरुषों के मुख के आसपास प्रभामंडल रहता है। प्रभामंडल उस विशिष्ट पुरुष की विशिष्टता के अनुसार ही प्रभावपूर्ण और तेजोमय होता है। प्रभामंडल के कारण उस विशिष्ट पुरुष के मुख पर ऐसा तेज चमकने लगता है जिससे उसके सामने बोलते भी लोग सहम जाते हैं। विशिष्ट पुरुषों के मुखमंडल के आसपास प्रभामंडल होने की शोध आधुनिक शोध नहीं है। प्राचीन चित्रों को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय चित्रकारों को इसका भलीभांति ज्ञान था। प्राचीन काल के राजा-रानी के चित्रों में भी उनके मुख के आसपास प्रभामंडल चित्रित किया हुआ देखा जाता है अर्थात् मुखमंडल के आसपास एक तेजपूर्ण गोलाकार प्रदर्शित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन चित्रकारों को प्रभामंडल का ज्ञान था। जब साधारण राजा रानी के मुखमंडल के साथ भी प्रभामंडल चित्रों में दिखाई देते हैं तो

साथ स्वतः प्राप्त हुई चीजें हैं; जो भगवान् के साथ रहती हैं और उन्हें अनुकूलता प्रदान करती हैं। ऐसी स्थिति में इन चीजों के कारण भगवान को दोष नहीं लगाया जा सकता। मान लीजिये, एक मनुष्य कहीं जाने के लिए घर से निकला। जब वह घर से निकला तो सख्त गर्मी थी। धूप भी बहुत थी। वह थोड़ी दूर गया कि अचानक बादल घिर आया और धूप के बदले छाया हो गई तथा ठंडी हवा बहने लगी। इस स्थिति में उस मनुष्य के लिए क्या कहा जायगा? यही कि वह मनुष्य वास्तव में पुण्यशाली है। वह स्वयं नहीं जानता था

---

(४) गुरु (५) स्थविर (६) बहुसूत्री (पंडित) (७) तपस्वी-इन सातों का गुणानुवाद करने से (८) ज्ञान में सतत उपयोग लगाने से (९) सम्यक्त्व का निर्दोष पालन करने से (१०) गुरु आदि पूज्य-पुरुषों का विनय करने, देवसी, रायसी, पाक्षिक, चौमासी तथा संवत्सरी, यह पाँचों प्रतिक्रमण निरन्तर करने से (१२) शील-ब्रह्मचर्य आदि, व्रतों प्रत्याख्यानों का निरतिचार पालन करने से (१३) वैराग्यवृत्ति धारण करने से (१४) बाह्य और आभ्यन्तर तप करने से (१५) सुपात्र दान से (१६) गुरु, रोगी, तपस्वी, वृद्ध तथा नवदीक्षित मुनि की सेवा करने से (१७) समाधिभाव-क्षमाभाव धारण करने से (१८) अपूर्व ज्ञानाभ्यास करने से (१९) बहुमान पूर्वक जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर श्रद्धा रखने से और (२०) जिनशासन की प्रभावना करने से।

इन बीस सत्कर्मों में से किसी एक अथवा समग्र सत्कर्मों का विशिष्ट रूप से सेवन करने वाला पुरुष तीर्थङ्कर गोत्र का फल प्राप्त करता है। वह बीच में देवलोक या नरक का एक भव करके तीसरे भव में तीर्थङ्कर होता है।

प्राप्त होता है, पहले नहीं। अतएव मोक्ष यहीं है। यह समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए :—

कल्पना कीजिए, एक तूंबे पर मिट्टी का लेप लगाया गया है। तूंबे का स्वभाव पानी पर तैरने का है पर तूंबे पर सात-आठ बार लेप लगाने से वह भारी हो गया है। पानी में छोड़ने पर तैरने के बदले वह डूब गया। पानी में पड़ा रहने से ऊपर की मिट्टी गल गई और हट गई। मिट्टी हटने से तूंबा फिर हल्का हो गया और अपने स्वभाव के अनुसार ऊपर आ गया। इस प्रकार तूंबा यद्यपि ऊपर आ गया है किन्तु मिट्टी के बन्धन से मुक्त तो वह पानी के नीचे ही हो गया था। अगर पानी के नीचे ही वह बन्धनमुक्त न हुआ होता तो ऊपर आ ही नहीं सकता था। इस एकदेशीय उदाहरण के अनुसार आत्मा भी कर्म के लेप से बद्ध है। जब आत्मा का यह कर्मलेप हट जाता है—आत्मा पूर्णरूप से निष्कर्म—कर्म-मुक्त—हो जाता है तभी वह सिद्धिस्थान प्राप्त करता है। आत्मा यहीं मुक्त न हुआ होता तो सिद्धिस्थान में जा ही नहीं सकता था।

जीव के लिए यह शरीर आदि बन्धन रूप हैं। अनन्त केवलज्ञान का प्रकट होना बन्धन से मुक्त होना ही है। फिर भले ही शरीर में वास हो तो भी आत्मा मुक्त है। सिद्धान्त इस कथन का समर्थन करता है। शास्त्र में कहा है—'एवं सिद्धा वदन्ति परमाणुं' अर्थात् सिद्ध भगवान परमाणु के विषय में ऐसा कहते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि सिद्ध गति में गये हुए सिद्ध भगवान तो बोलते नहीं हैं फिर भी यहाँ कहा गया है कि सिद्ध कहते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्त भगवान को ही सिद्ध कहा है। इस प्रकार इस संसार में ही मोक्ष है

कहाँ भटक रही है! तुझे ऐसा दुर्लभ सुयोग मिल गया है तो फिर इसे क्यों गँवा रहा है?' सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा—'हे आयुष्मन् जम्बू! भगवान् ने इस प्रकार कहा है।' अथवा 'हे जम्बू! आयुष्मान भगवान् ने इस प्रकार कहा है।'

आयुष तो तुम्हें भी प्राप्त है और भगवान् को भी प्राप्त था किन्तु दोनों के आयुष में कुछ अन्तर है या नहीं? तुम्हें जो समय होता है और वकील को जो समय होता है, उसमें कुछ अन्तर है या नहीं? जब वकील के और साधारण आदमी के समय में भी अन्तर होता है तो भगवान् के आयुष्य में और साधारण मनुष्य के आयुष्य में कितना अधिक अन्तर न होगा? इन्द्र आदि देवगण जिन भगवान् को नमस्कार करते हैं। उन भगवान् ने जो वाणी सुधर्मा स्वामी को सुनाई थी और सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को सुनाई थी, वही सिद्धान्त-वाणी आज हम लोग सुन रहे हैं। इस सिद्धान्त-वाणी का महत्व और अपना सौभाग्य कितना महान् है, यह विचार करना चाहिए।

सुधर्मा स्वामी कहते हैं–'हे जम्बू! भगवान महावीर ने सुनाया है और मैंने भगवान् से सुना है।' क्या सुना है, इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि 'यह'—'इदम्' यह कथन अंगुलीनिर्देश के साथ किया गया है। जो वस्तु सामने होती है उसी के विषय में ऐसा कथन किया जाता है। 'खलु का अर्थ निश्चय है' अतएव इस कथन का अर्थ यह हुआ कि –'हे जम्बू! मैंने निश्चय रूप से भगवान् से सुना है अर्थात् यह सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन मैंने निश्चय ही भगवान् से सुना है।'

पहले कहा जा चुका है कि इस अध्ययन के तीन नाम हैं, परन्तु सूत्र में यह अध्ययन 'सम्यक्त्वपराक्रम' नाम से ही कहा

गया है। जिस अध्ययन में सम्यक्त्व के लिए किये जाने वाले पराक्रम का विचार किया गया है, वह 'सम्यक्त्वपराक्रम-अध्ययन' कहलाता है।

संसार में सभी जन सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं। मिथ्या-दृष्टि कोई नहीं रहना चाहता। किसी को मिथ्यादृष्टि कहा जाय तो उसे बुरा भी लगता है। इससे सिद्ध है कि सभी लोग 'सम्यग्दृष्टि रहना चाहते हैं और वास्तव में यह चाहना उचित भी है। मगर पहले यह समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्व का अर्थ क्या है? 'सम्यक्' का एक अर्थ प्रशंसा रूप है और दूसरा अर्थ अविपरीतता होता है। यद्यपि सदा सम्यक्त्व अविपरीतता में ही है पर शास्त्रकार प्रशंसा कार्य को सम्यक् में ही गिनते हैं।

विपरीत का अर्थ उलटा और अविपरीत का अर्थ सीधा-जैसे का तैसा, होता है। जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में देखना अविपरीतता है, और उलटे रूप में देखना विपरीतता है। उदाहरणार्थ—किसी ने साँप देखा। वास्तव में वह साँप है, फिर भी अगर कोई उसे रस्सी समझता है तो उसका ज्ञान विपरीत है। काठियावाड़ में विचरते समय मैंने मृगमरीचिका देखी। वह ऐसी दिखाई देती थी [illegible]

[illegible]

सीप जब कुछ दूरी पर होती है तो उसकी चमचमाहट देखकर चाँदी समझ ली जाती है। अगर उसके पास जाकर देखा तो कोई सीप को चाँदी मान सकता है? नहीं। इसी प्रकार संसार के पदार्थ जब तक मोह की दृष्टि से देखे जाते हैं, तब तक वह जिस रूप में माने जाते हैं उसी रूप में दिखाई देते हैं, किन्तु अगर पदार्थों के मूल स्वरूप की परीक्षा की जाय तो वह ऐसे नहीं प्रतीत होंगे, बल्कि एक जुदे रूप में दिखाई देंगे। जब पदार्थों की वास्तविकता समझ में आ जायगी तब उनके सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली विपरीतता मिट जायगी। जब पदार्थों की वास्तविकता का भान होता है और विपरीतता मिट जाती है तभी सम्यग्दृष्टिपन प्रकट होता है। सीप दूर से चाँदी मालूम होती थी, किन्तु पास जाने से वह सीप मालूम होने लगी। सीप में सीपपन तो पहले भी मौजूद था परन्तु दूरी के कारण ही सीप में विपरीतता प्रतीत होती थी और वह चाँदी मालूम हो रही थी। पास जाकर देखने से विपरीतता दूर हो गई और उसकी वास्तविकता ज्ञात पड़ने लगी। इस तरह वस्तु के पास जाने से और भलीभांति परीक्षण करने से वस्तु के विषय में ज्ञान की विपरीतता दूर होती है तथा वास्तविकता मालूम होती है और तभी जीव सम्यग्दृष्टि बनता है।

सीप की भाँति अन्य पदार्थों के विषय में भी विपरीतता मालूम होने लगती है। पदार्थों के विषय में विपरीतता किस प्रकार हो रही है, इस विषय में शास्त्र में कहा है—'जीवे अजीवसन्ना, अजीवे जीवसन्ना' अर्थात् जीव को अजीव और अजीव को जीव समझना इत्यादि इस प्रकार के मिथ्यात्व हैं। कहा जा सकता है कि कौन ऐसा मनुष्य होगा जो जीव को अजीव मानता हो? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव को अजीव मानने

वाले बहुत से लोग हैं। बुद्ध का कहना है कि जो कुछ है, वह शरीर ही है। शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है। यह शरीर पाँच भूतों से बना है और जब पाँचों भूतों का संयोग नष्ट हो जाता है तो शरीर भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जीव-आत्मा को न मानने वाले भी हैं। यह भी एक प्रकार का ज्ञान है, किन्तु है यह मिथ्याज्ञान। जीव में अजीव की स्थापना करने का कारण यही है कि ऐसी स्थापना करने वाले लोग अभी तक सम्यग्ज्ञान से दूर हैं। जब वह सम्यग्ज्ञान के समीप आएँगे तो, जैसे समीप जाने से सीप में चाँदी का मिथ्या-ज्ञान मिट जाता है, उसी प्रकार आत्मा सम्बन्धी मिथ्याज्ञान भी मिट जायगा। उस समय उन्हें आत्मा का भान होगा।

पुराने लोग, जो आधुनिक शिक्षा से प्रभावित नहीं हुए हैं, आत्मा मानते हैं, किन्तु आधुनिक शिक्षा के रंग में रंगे हुए अनेक लोग आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। जैसे दूर रहने के कारण मृगजल, जल समझ लिया जाता है और सीप, चाँदी मानली जाती है, उसी प्रकार जीवतत्त्व से दूर रहने के कारण ही लोग जीव को अजीव मान लेते हैं। अगर वह जीवतत्त्व के निकट पहुँचें तो उन्हें प्रतीत होगा कि वह भ्रमवश जिसे अजीव मान रहे थे, वह अजीव नहीं, जीव है।

'आत्मा नहीं है' यह कथन ही आत्मा की सिद्धि करता है। [illegible] है [illegible] इस प्रकार [illegible]

जल की कल्पना ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा नहीं है, यह कथन भी आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध करता है। आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका नाम ही कहाँ से आता? और उसके निषेध की आवश्यकता ही क्या थी?

आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करने का एक कारण यह है कि संसार में जितने भी समासहीन पद हैं, उन सब पदों के वाच्य पदार्थ भी अवश्य होते हैं। जो पद समासयुक्त हैं उनका वाच्य पदार्थ कदाचित् नहीं भी होता मगर जिस पद में समास नहीं होता उस पद का वाच्य अवश्य होता है। 'आत्मा' पद समासरहित है अत: उसका वाच्य आत्मा पदार्थ अवश्य होना चाहिए। उदाहरण के तौर पर 'शशशृंग' पद बोला जाता है। 'शशशृंग' का अर्थ है खरगोश का सींग। यह समासयुक्त पद है। इसका वाच्य कोई पदार्थ नहीं है। मगर 'शश' और 'शृंग' शब्दों को अलग-अलग कर दिया जाय तो दोनों का अस्तित्व है। शश अर्थात् खरगोश और शृंग अर्थात् सींग, दोनों ही जगत् में विद्यमान हैं। जैसे 'शशशृंग' नहीं होता उसी प्रकार 'आकाशपुष्प' भी नहीं होता। ऐसा होने पर भी अगर दोनों समस्त-समासयुक्त-पद अलग-अलग कर दिए जाएँ तो दोनों का ही अस्तित्व प्रतीत होता है। इससे भलिभांति सिद्ध है कि जितने भी समासरहित व्युत्पन्न पद हैं उनके वाच्य पदार्थ का सद्भाव अवश्य होना है। 'आत्मा' पद भी समासरहित है, अतएव उसका वाच्य आत्मा पदार्थ भी अवश्य है। हाथी, घोड़ा, घट, पट आदि जितने असामासिक पद हैं, उन सब के वाच्यों का अस्तित्व सिद्ध है तो फिर अकेले आत्मा का अस्तित्व क्यों नहीं होगा?

यह हुई जीव में अजीव के आरोप की बात। इसी प्रकार अजीव में भी जीव का आरोप किया जाता है। उदाहरणार्थ—कुछ

भी अपना मित्र मानोगे और उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करोगे। इसके विपरीत अगर तुम अपने सगे-सम्बन्धी की रक्षा के लिए दौड़े जाओ परन्तु अपरिचित गरीब की रक्षा के लिए प्रयत्न न करो तो कहा जायगा कि अभी तुम्हारे अन्तःकरण में सच्चा करुणाभाव उत्पन्न नहीं हुआ है। तुम्हारे हृदय में सम्यक्त्व होगा तो सब की रक्षा करने का दयाभाव भी अवश्य होगा। यह सम्भव नहीं कि सम्यक्त्व हो किन्तु दयाभाव न हो। अगर कोई कहे कि सोना तो है मगर पीला नहीं है तो उससे यही कहा जायगा कि जो ऐसा है वह सच्चा सोना ही नहीं है। इसी प्रकार जिसमें चिकनापन नहीं है वह घी ही नहीं है। वह और कोई चीज़ होगी। इसी प्रकार हृदय में दयाभाव न हो तो यही कहा जायगा कि अभी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है। जिसमें सम्यक्त्व होगा उसमें दयाभाव अवश्य होगा। सम्यक्त्व के साथ दयाभाव का अविनाभावी संबन्ध है। इसी कारण सन्त पुरुष ऐसा उपदेश देते हैं कि—

> करिये भवि प्राणी धर्म सुखों की खान है,
> दया धर्म का मूल कहा है उसका भेद सुनावे,
> अनुकम्पा जिस दिल में प्रकटे माया ममता जावेरे। करिये०।

क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, सभी लोग दया को श्रेष्ठ मानते हैं। सभी लोग दयाधर्म दयाधर्म चिल्लाते हैं। दया के विषय में किसी का मतभेद नहीं है। नीतिग्रन्थों में कहा है—

'परस्परविवदमानानां धर्मग्रन्थानामहिंसा परमो धर्म इत्यत्रैकवाक्यता'

अर्थात्—धर्मग्रन्थों में अनेक बातों में मतभेद है किन्तु 'अहिंसा श्रेष्ठ धर्म है' इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है।

का नाम कान में पड़ते ही दयाधर्म याद आ जाता है, इसका कारण पैत्रिक संस्कार है। परन्तु वस्त्रों के विषय में नहीं सोचते कि हम क्या कर रहे हैं ? सुना है चिकागो (अमेरिका) में जो कत्लखाने हैं, उनमें का रक्त बाहर निकालने के लिये इतने मोटे नल लगाये गये हैं जैसे किसी शहर की बड़ी २ गटरें हों। इस प्रकार की घोर हिंसा वाली चर्बी लगे वस्त्र पहनना क्या दयाधर्मी को शोभा देता है ? जो सच्चा दयाधर्मी होगा वह तो यही कहेगा कि ऐसे वस्त्र मुझसे पहने हैं नहीं जा सकते।

दयाधर्म की रक्षा के लिये ही तुमने मांसभक्षण का त्याग कर रक्खा है। मांस के प्रति तुम्हारे दिल में इतनी तीव्र घृणा है कि प्राण भले ही चले जाएँ मगर तुम मांस का स्पर्श तक नहीं कर सकते मांस न खाने के विषय में जिस युक्ति का उपयोग किया जाता है उसी युक्ति का अन्य बातों में अर्थात कौन वस्तु उपादेय है और कौन हेय है, ऐसा विवेक करने में उपयोग करने से ही दयाधर्म टिक सकता है। कदाचित् कोई कहे कि दयाधर्म की रक्षा करने में कष्ट सहना पड़ता है तो उसे उत्तर देना चाहिये कि दयाधर्म की रक्षा के लिये कष्ट सहन करना ही उचित है। गजसुकुमार मुनि संयम का पालन करने के लिये ही निकले थे और वह संयम का पालन कर रहे थे इसी कारण उनके सिर पर कष्ट पड़े थे। पर कष्ट पड़ने के कारण इन्होंने क्या संयम पालना छोड़ दिया था ? तो क्या तुम दयाधर्म की रक्षा के लिए जरा सा भी कष्ट नहीं सहन कर सकते यद्यपि पूर्ण दया का पालन तो चौदहवें गुणस्थान में ही सम्भव है फिर भी तुममें पहले अपनी शक्ति के अनुसार तो दया का पालन करना ही चाहिये और दयाधर्म में कितनी प्रबल शक्ति रही हुई है औ

परन्तु 'सम्यक्त्वपराक्रम' नाम के विषय में किसी प्रकार की भूल नहीं है। यहाँ गुणी को गौण करके गुण को प्रधानता दी गई है, यह स्पष्ट है। अतएव यहाँ समकित का अर्थ समकिती समझना चाहिए। क्योंकि समकित गुण है और गुण कोई पराक्रम नहीं कर सकता। पराक्रम करना गुणी का ही काम है। इस कारण समकिती जो पराक्रम करे वही पराक्रम यहाँ समझना चाहिए।

सुधर्मा स्वामी ने सर्वप्रथम, समुच्चय रूप में कहा—'मैंने भगवान से सुना है।' परन्तु इस कथन से यह जिज्ञासा हो सकती है कि किस भगवान से सुना है? भगवान तो ऋषभदेव भी थे और अन्य तीर्थंकर भी भगवान थे। शास्त्रों में अनेक स्थलों पर स्थविरों को भी भगवान कहा है और गणधर भी भगवान् कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान कहने से किसे समझा जाय? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए स्पष्ट किया गया है कि 'मैंने भगवान महावीर से यह सुना है।' भगवान महावीर भी कैसे थे? इस बात को स्पष्ट करने के लिए कहा है—'मैंने श्रमण भगवान महावीर से इस प्रकार सुना है।'

श्रमण का अर्थ है—तपस्या में पराक्रम करने वाला या समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखने वाला। सामान्य रूप से साधुओं में समभाव होता है परन्तु भगवान महावीर सम्पूर्ण रूप से समभाव धारण करने [illegible] और महिमा [illegible] [illegible] करने वालों का [illegible]

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा—ऐसे श्रमण भगवान् महावीर ने जब केवलज्ञान प्राप्त कर लिया तब सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन की प्ररूपणा की और मैंने उनसे यह सुना।

जनता के कल्याण के लिए इस अध्ययन में भगवान् ने प्रश्न पर एक बात उपस्थित करके स्वयं ही उस प्रश्न का उत्तर दिया है। इस प्रकार सब बातों का निर्णय किया है। अगर तुम सचमुच ही अपना कल्याण चाहते हो तो भगवान् की इस वाणी पर विश्वास रखकर इसे अपने जीवन में स्थान दो। भगवान् की वाणी को अपने जीवन में ताने-बाने की तरह बुन लेने से अवश्य कल्याण होगा। भगवान् की वाणी कल्याणकारिणी है, मगर उसका उपयोग करके कल्याण करना अथवा न करना तुम्हारे हाथ की बात है। इस संबंध में भगवान् ने किसी पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डाला है। भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम थे। वह मर्यादा को भंग नहीं कर सकते थे। उनकी मर्यादा यह थी कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचने पाये। रोक-टोक कर समझाने से सामने वाले को कष्ट पहुँचता है, तथा स्थिति में भगवान् किसी को जबर्दस्ती कैसे समझा सकते थे? भगवान् अपनी अहिंसा का परिपालन करने में [illegible] का दिग्दर्शन भी किया है। इसीलिए भगवान् ने किसी पर जबर्दस्ती नहीं की। [illegible] सभी को कल्याण [illegible] है। [illegible] भगवान् का [illegible] माना [illegible] तथा नहीं किया [illegible] तो इसी [illegible] नहीं है [illegible] भी [illegible]

रोग से छुटकारा हो सकता है। अन्यथा रोग से बचने का और क्या उपाय है?

इसी उदाहरण के आधार पर भगवान महावीर की वाणी के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। महावीर भगवान् महावैद्य के समान हैं, जिन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर दीर्घ तपश्चर्या की थी और उसके फलस्वरूप केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त किया था और जगत-जीवों को जन्म-जरा-मरण आदि भावरोगों से मुक्त करने के लिए अहिंसा आदि रूप अमोघ दवा की खोज करके जो महावैद्य बने थे। उन महावैद्य महावीर भगवान् ने जन्म-जरा-मरण आदि भाव रोगों से पीड़ित जगत्-जीवों को रोगमुक्त करने के लिए यह प्रवचन रूपी अमोघ औषध का आविष्कार किया है। सबसे पहले इस औषध पर श्रद्धा उत्पन्न करने की आवश्यकता है। ऐसे महान् त्यागी, ज्ञानी भगवान की दवा पर भी विश्वास पैदा न होगा तो फिर किसकी दवा पर विश्वास किया जायगा? भगवान की सिद्धान्तवाणी को सभी लोग विवेक की कसौटी पर नहीं कस सकते। सब लोग नहीं समझ सकते कि भगवान् की वाणी में क्या माहात्म्य है? अतएव साधारण जनता के लिये एक मात्र लाभप्रद बात यही है कि वे उस पर अविचल भाव से श्रद्धा स्थापित करें। जब तक श्रद्धा उत्पन्न न होगी, तब तक लाभ भी नहीं हो सकता। इस कारण श्रद्धा को सब से अधिक महत्व दिया गया है। गीता में भी कहा है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

अर्थात्—पुरुष श्रद्धामय है-श्रद्धा का ही पुंज है और जो जैसी श्रद्धा करता है वह वैसा ही बन जाता है। यह बात व्यवहार

कष्ट भोग रहे हैं। यों तो अनादि काल से ही जीव उन्मार्ग पर चल कर दुःख भुगत रहे हैं, मगर उनसे कहा जाय कि सीधी तरह स्वेच्छा से कुछ कष्ट सहन कर लो तो सदा के लिये दुःख से छूट जाओगे तो वे ऐसा करने को तैयार नहीं होते और इसी कारण वाणी रूपी औषध की विद्यमानता में भी वे कर्म-रोगों से पीड़ित हो रहे हैं।

भगवान् की वाणी रूपी दवा पर श्रद्धा प्रतीति रुचि करने के अनन्तर उसको स्पर्शना भी करनी चाहिए। अर्थात् अपने बल, वीर्य और पराक्रम आदि का दुरुपयोग न करते हुए सिद्धान्तवाणी के कथनानुसार आत्मानुभव करने में ही उनका उपयोग करना चाहिए। इस तरह शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार भगवद्-वाणी को जितने अंश में स्वीकार किया हो उतने अंश का बराबर पालन करना चाहिए और इसी प्रकार बढ़ते हुए भगवद्वाणी के पार पहुँचना चाहिए।

आज बहुत-से लोग आरम्भशूर दिखाई देते हैं। लोग किसी कार्य को प्रारम्भ तो कर देते हैं किन्तु उसे पूरा किये बिना ही छोड़ बैठते हैं। ऐसे आरम्भशूर लोग किसी कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकते। महापुरुष प्रथम तो बिना विचारे किसी कार्य को हाथ में लेते ही नहीं हैं और जिस काम में हाथ डालते हैं उसे भयंकर से भयंकर कष्ट आने पर भी अधूरा नहीं छोड़ते।

इस प्रकार सिद्धान्तवाणी का मर्यादानुसार पालन करके पारगत होना चाहिए और फिर 'यह वाणी जैसी कही जाती है वैसी ही है। मैं इस वाणी का पालन करके पार नहीं पहुँच सकता था किन्तु भगवान की कृपा से पार पहुँचा हूँ' इस प्रकार कहकर भगवद्-वाणी का सङ्कीर्तन करना चाहिए। भगवद्वाणी को आचरण में

क्या उन झंझटों को नहीं जानते थे ? इस पंचमकाल को और इसमें उत्पन्न होने वाले दुःखों को भगवान भलीभाँति जानते थे और इसी कारण उन्होंने दुःख से मुक्त होने के उपाय बतलाये हैं। फिर भी अगर कोई यह उपाय काम में नहीं लाता और सिद्धान्त-वचनों पर श्रद्धा नहीं करता तो वह दुःखों से किस प्रकार मुक्त हो सकता है ?

हम लोग कई बार सुनते हैं कि सत्य का पालन करते हुए अनेक महापुरुषों ने विविध प्रकार के कष्ट सहन किये हैं, परन्तु वे महापुरुष कभी ऐसा विचार तक नहीं करते कि सत्य के कारण यह कष्ट सहने पड़ते हैं तो हमें सत्य का त्याग कर देना चाहिए। महापुरुषों का यह आदर्श अपने समक्ष होने पर भी अगर हम सत्य का आचरण न करें तो यह हमारी कितनी बड़ी अपूर्णता कहलाएगी ? अतएव भगवान की वाणी को यथार्थ समझकर उस पर श्रद्धा, प्रतीति तथा रुचि करो और विचार करो कि भगवान का हमारे ऊपर कितना उपकार है कि उन्होंने हमारे कल्याण के लिए यह वचन कहे हैं। भगवान अपना निज का कल्याण तो बोले बिना भी कर सकते थे, फिर भी हमारे कल्याण के लिए ही उन्होंने यह सिद्धान्त वाणी कही है। अतएव भगवद्वाणी पर हमें विश्वास करना ही चाहिए।

कदाचित् कोई कहने लगे कि आपका कहना सही है परन्तु संसार में [illegible] [illegible]

सहायता लेनी पड़ती है। भगवान् की वाणी दर्पण के समान है। मनुष्य दर्पण की सहायता से अपने मुख का दाग देखकर उसे धो सकता है उसी प्रकार भगवान की वाणी के दर्पण में अपनी आत्मा के अवगुण देखो और उन्हें धो डालो। भगवान् की वाणी का यही चमत्कार है कि वह आत्मा को उसका अवगुण रूप दाग स्पष्ट बतला देती है। अगर तुम अवगुण दूर करके गुणग्रहण की विवेकबुद्धि रक्खोगे तो भगवान की वाणी का चमत्कार तुम्हें अवश्य दिखाई देगा। इसलिए भगवान की वाणी पर दृढ़ विश्वास रखकर उसकी सहायता से अपने अवगुण धो लो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

शास्त्र में कहीं-कहीं इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है जैसे भगवान से प्रश्न किये गये हों और भगवान् ने उनका उत्तर दिया हो, और कहीं-कहीं ऐसा है कि भगवान् स्वयं ही फरमा रहे हों। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि भगवान् ने जो बात अपने ज्ञान में देखी है वही बात कही है और यह बात उन्होंने कभी-कभी बिना पूछे भी कही है। मगर जो बात उन्होंने अपने ज्ञान में नहीं देखी वह पूछने पर भी नहीं कही।

उत्तराध्ययन के विषय में कहा जाता है कि यह भगवान की अंतिम वाणी है। अतः इस वाणी का महत्व समझ कर श्रद्धा प्रतीति तथा रुचिपूर्वक हृदय में उसे उतारा जाय तो अवश्य आत्मा का कल्याण होगा। भगवान की इस वाणी को हृदय में उतारने के लिए श्रद्धा, प्रतीति और रुचि समान होनी चाहिए और व्यवहार भी वैसा ही होना चाहिए अर्थात् जैसा विचार हो वैसा ही उच्चार भी हो और जैसा उच्चार हो वैसा ही आचार हो। विचार, उच्चार और आचार में तनिक भी विषमता नहीं होनी चाहिए। विषमता होना एक प्रकार की कुटिलता है और कुटिलता में भगवान की वाणी द्वारा

अब तुम अपनी विवेक-बुद्धि से विचार करो कि दोनों में से किसकी बात माननी चाहिए? भगवान महावीर जो कहते हैं वह क्या स्वार्थबुद्धि से कहते हैं? अगर नहीं, तो उनके कथनानुसार आचरण करने में तुम्हारी क्या हानि है? वे कहते हैं—तुझे परलोक जाना है, इसलिए मेरे बतलाए सद्गुण अगर धारण कर लेगा तो तेरा परलोक का मार्ग सुगम हो जायगा। तुझे सद्गुण धारण करने में क्या विरोध है? सत्य, प्रामाणिकता, दया, नीति आदि सद्गुण धारण करने से तेरा क्या बिगड़ जायगा? इन सद्गुणों के कारण इस लोक में सुख प्राप्त होता है और जिन सद्गुणों से इस लोक में सुख होता है, वे परलोक में सुखदायक क्यों नहीं होंगे? सद्गुणों के पाथेय (भत्ता) बिना परलोक का पथ बड़ा ही कठिन मालूम होगा। अतएव परलोक के पथ पर प्रयाण करने से पहले भगवान महावीर सद्गुणों के जिस पाथेय को साथ लेने की सलाह देते हैं, उसे शिरोधार्य करके पहले से ही बस का भाता तैयार कर लेना चाहिए। भगवान ने तो राजपाट का त्याग करके त्यागमय जीवन स्वीकार किया था, अतएव लोगों से कुछ लेने के लिए या किसी अन्य स्वार्थभावना से तो उन्होंने ऐसा उपदेश दिया नहीं है फिर उनकी बात मान लेने में क्या बाधा है?

अब मुसलमान भाई की परलोक [illegible] सिद्धान्त [illegible] भगवान [illegible]? [illegible]

[illegible]

मूर्त्त रूप दिये बिना नहीं रहेगा। जहाँ संवेग है वहाँ मोक्ष की अ
लाषा और धर्मश्रद्धा भी अवश्य होती है। इस प्रकार जहाँ संवेग
वहाँ धर्मश्रद्धा है और जहाँ धर्मश्रद्धा है वहाँ संवेग है। धर्म
जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों से मुक्त होने का कारण है और सं
भी इन दुःखों से मुक्त कर मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा को पूर्ण क
के लिए ही होता है। इस प्रकार धर्मश्रद्धा और संवेग एक दूसरे
आधारभूत हैं—दोनों में अविनाभाव संबंध है।

धर्मश्रद्धा भी दो प्रकार की होती है। एक धर्मश्रद्धा सं
के लिए होती है और दूसरी संवेग के लिए। कुछ ऐसे लोग है
अपने आपको धार्मिक कहलाने के लिए और अपने दोषों पर
डालने के लिए धर्मक्रिया करने का ढोंग करते हैं। किन्तु म
के कथनानुसार ऐसी धर्मक्रिया संवेग के लिए नहीं है। इस प्र
की कुत्सित कामना से अगर कोई साधु हो जाय तो भी उससे
लाभ नहीं होता।

शास्त्र में बतलाया गया है कि कितनेक अभव्य
भी साधु बन जाते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि अभव्य होने
कारण जिसे धर्म के प्रति श्रद्धा ही नहीं होगी, वह साधु कैसे
जायगा? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि वास्तव में अभ
को धर्मश्रद्धा तो होती नहीं किन्तु साधुओं की महिमा-पूजा देख
अपनी महिमा-पूजा के लिए वह साधु का वेष धारण कर लेते
उसके बाद साधु की क्रिया भी इसी उद्देश्य से करते हैं कि अगर
साधु की क्रिया नहीं करेंगे तो हमारी पूजा-प्रतिष्ठा नहीं होगी।
इस प्रकार का साधुत्व क्या मोक्ष के हिसाब में गिना जा सकता
जब ऐसा साधुपन भी मोक्ष के हिसाब में नहीं गिना जा सकता
ऐसे ही आशय से की गई तुम्हारी धर्मक्रिया मोक्ष के लिये में

वह अंगूठी तो किसी जौहरी को ही देंगे जो रत्न की पूरी-पूरी कीम चुका दे। ऐसा करने में ही व्यावहारिक बुद्धिमत्ता समझी जाती है कम कीमत में अंगूठी दे देना बुद्धिमत्ता नहीं वरन् मूर्खता सम जाता है।

इस व्यावहारिक उदाहरण को आप समझ गये होंगे। ध के विषय में भी ऐसा ही समझिए। धर्म एक बहुमूल्य रत्न है। इ रत्न के बदले में संसार की तुच्छ वस्तु रूपी शाक-भाजी खरीदी जा तो क्या ऐसा करना ठीक होगा ? इस धर्म-रत्न को ओछी कीमत न बेचोगे तो फिर आपको किसी भी सांसारिक वस्तु की कमी न रह जायगी। धर्म को संसार की तुच्छ वस्तु के बदले न बेचने कारण आपको दस बोलों की प्राप्ति की सुविधा होगी।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र में दस बोलों का वर्णन करते हुए कहा है—

> खित्तं वत्थु हिरएणं च, पसवो दासपोरुसं।
> चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ॥
> मित्तवं नाइवं होइ, उच्चगोए य वएणवं।
> अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले॥
>
> —अ० ३, गा. १७-१८

अर्थात्—जो पुरुष ससार के सुखों में न ललचा कर अनु धर्म पर श्रद्धा रखता है और अपने संवेग की वृद्धि करना चाह है, वह अपनी धर्मश्रद्धा के फलस्वरूप, कदाचित् वर्त्तमान भव में मोक्ष न प्राप्त करे तो देवलोक में अवश्य जाता है और वहाँ . सात प्रधान पदवियों में से एक पदवी प्राप्त करता है। तत्पश्च

वह देवलोक के सुख भोग कर, नीची गति में न जाकर मनुष्य भव ही प्राप्त करता है और उसे वहाँ उत्तम (१) क्षेत्र, वास्तु चांदी-सोना, पशु तथा दास (२) मित्र (३) ज्ञाति (४) उच्च गोत्र (५) सुन्दर शरीर (६) नीरोगता (७) बुद्धि (८) कुलीनता (९) यश और (१०) बल, इन दस बोलों की सुविधा मिलती है।

ऊपर कहे दस बोलों में पहला बोल उत्तम क्षेत्र है।

भगवान् ने जीवन की आवश्यक वस्तुओं में क्षेत्र को प्रथम स्थान दिया है। क्षेत्र (खेत) में अन्न उत्पन्न न हो तो जीवन टिक ही नहीं सकता। जीवन अन्न के आधार पर ही टिका हुआ है। यह बात एक परिचित उदाहरण द्वारा समझाता हूँ।

मान लीजिये किसी राजा ने आपको एक सुन्दर महल दिया। महल फर्नीचर आदि से खूब सजा हुआ है। राजा ने ऐसा सुन्दर महल देने के साथ एक शर्त की कि इस महल में, खेत में पैदा होने वाली कोई भी चीज़ नहीं आ सकेगी। अब आप विचार कीजिये कि उस सुन्दर महल में आपका जीवन कितने दिनों तक टिक सकेगा? दूसरे, आपको एक झोंपड़ी दी जाय और वहाँ खेत में पैदा होने वाले अन्न आदि का उपयोग करने की छूट दी जाय तो क्या उसमें आपका जीवन-व्यवहार बखूबी नहीं चल सकता? अवश्य चल सकता है।

इस प्रकार जीवन में खेती का अपूर्व स्थान है, किन्तु आपको खेत नहीं चाहिए, खेत में पैदा हुई वस्तुएँ चाहिए! यह कितनी भूल है। सच्ची सम्पत्ति तो खेत ही है। और सम्पत्ति को चोर चुरा सकते हैं, मगर खेती को कोई चुरा नहीं सकता। ऐसा होने पर

वह अंगूठी तो किसी जौहरी को ही देंगे जो रत्न की पूरी-पूरी कीमत चुका दे। ऐसा करने में ही व्यावहारिक बुद्धिमत्ता समझी जाती है। कम कीमत में अंगूठी दे देना बुद्धिमत्ता नहीं वरन् मूर्खता समझी जाता है।

इस व्यावहारिक उदाहरण को आप समझ गये होंगे। धर्म के विषय में भी ऐसा ही समझिए। धर्म एक बहुमूल्य रत्न है। इस रत्न के बदले में संसार की तुच्छ वस्तु रूपी शाक-भाजी खरीदी जाय तो क्या ऐसा करना ठीक होगा? इस धर्म-रत्न को थोड़ी कीमत में न बेचोगे तो फिर आपको किसी भी सांसारिक वस्तु की कमी नहीं रह जायगी। धर्म को संसार की तुच्छ वस्तु के बदले न बेचने के कारण आपको दस बोलों की प्राप्ति की सुविधा होगी।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र में दस बोलों का वर्णन करते हुए कहा है—

> खित्तं वत्थु हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।
> चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ॥
> मित्तवं नाइवं होइ, उच्चगोए य वण्णवं।
> अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले॥

—अ० ३, गा. १७-१८

अर्थात्—जो पुरुष संसार के सुखों में न ललचा कर अनुत्तर धर्म पर श्रद्धा रखता है और अपने संवेग की वृद्धि करना चाहता है, वह अपनी धर्मश्रद्धा के फलस्वरूप, कदाचित् वर्त्तमान भव में ही मोक्ष न प्राप्त करे तो देवलोक मे अवश्य जाता है और वहाँ की प्रधान पदवियों में से एक पदवी प्राप्त करता है। तत्पश्चात्

भी आज तुम्हारे पास कितने खेत हैं? कदाचित् तुम खेत वाले होओ तो ऐसा अभिमान मत न रक्खो कि हम खेती नहीं करने वाले बड़े हैं और खेती करने वाले किसान नीचे-हलके हैं। तुम अपने सजातीय और साधर्मी किसानों के साथ संबंध जोड़ने की हिम्मत रक्खो, कायरता मत लाओ। संसार में हिम्मत की कीमत है।

संघ का धर्म क्या है और संघ को किस प्रकार अपने सब सदस्यों को अपनाना चाहिये, यह बतलाने के लिए प्राचीन काल का एक उदाहरण तुम्हारे सामने रखता हूँ। आज के संघ का नाम मात्र तो है, मगर उसमें संगति नहीं है। संगति होने पर संघ सम्पूर्ण राष्ट्र में हलचल पैदा कर सकता है। मगर आज के संघ में ऐसी फूट पड़ गई है कि उसकी समस्त शक्तियाँ नष्ट हो रही हैं। भारत का फूट और असत्य, यह दो वस्तुएं विदेशियों के लिए 'मेवा' के समान हैं। अगर यह दोनों वस्तुएं भारत से हट जाएं तो भारत विदेशियों के लिए 'मेवा' नहीं, वरन् 'सेवा' करने योग्य बन सकता है। सत्य और ऐक्य के द्वारा भारत का उत्थान हुए बिना नहीं रह सकता।

संघ में किस प्रकार की संगति होनी चाहिए, इस विषय में एक उदाहरण लीजिए—

भारतवर्ष में युधिष्ठिर धर्मात्मा के रूप में प्रसिद्ध हैं। जैन और अजैन, सभी युधिष्ठिर को महापुरुष और धर्मात्मा मानते हैं। दूसरी ओर दुर्योधन पापात्मा था। उसने भीम को नदी में बहा दिया था और पांडवों के घर में आग लगवा दी थी। फिर भी अपने पुण्यप्रताप से पाण्डव बच गये। दुर्योधन ने युधिष्ठिर को जुए में हराकर पाण्डवों को जंगल में भेज दिया था। जंगल में वे अनेक [illegible] पाण्डव स्वयं बलवान थे और स्वयं श्रीकृष्ण जैसे

इस समय की निंदा करती हो, लेकिन जरा विचार करो कि किसी प्रकार का अपराध न करने पर भी, धर्म के पालन के लिए हम लोगों को इस समय संकट सहने पड़ते हैं। इससे बढ़कर दूसरा आनन्द और क्या हो सकता है?

युधिष्ठिर और उनके भाई जंगल में कष्ट सहन कर रहे थे, फिर भी दुर्योधन की आँखों में वे काँटे की तरह खटकते थे। दुर्योधन ने विचार किया—इस समय पाण्डव असहाय हैं, मैं सेना ले जाकर उन्हें नष्ट कर डालूँ तो सदा के लिए झगड़ा ही मिट जाएगा। इस प्रकार विचार कर दुर्योधन गोकुल देखने के बहाने सेना लेकर चला। उसकी इच्छा तो पाण्डवों को नष्ट करने की थी मगर बहाना उसने किया गोकुल देखने का।

पहले के राजा लोग भी गोकुल रखते थे और श्रावक भी गोकुल रखते थे। आनन्द श्रावक के वर्णन में यह वर्णन कहीं नहीं देखा गया कि उसके यहाँ हाथी, घोड़ा या मोटरें थीं, इसके विपरीत गायें होने का वर्णन अवश्य देखा जाता है। इस प्रकार पहले के लोग गायों की खूब रक्षा करते थे। मगर आज तो ऐसा जान पड़ता है मानों लोगों ने गोपालन को हलका काम समझ रक्खा है। लोग गायों के कत्ल की शिकायत करते हैं, मगर गहरा विचार करने पर मालूम होगा कि इसका प्रधान कारण यही है कि हिंदुओं ने गायों का आदर करना छोड़ दिया है। लोगों को मोटर का पेट्रोल खाना सह्य हो जाता है मगर गाय का घास खाना सह्य नहीं है।

दुर्योधन के हृदय में पाण्डवों को नष्ट करने की भावना थी परन्तु वह गोकुल का निरीक्षण करने के बहाने सेना के साथ निकला। मार्ग में दुर्योधन अपनी सेना के साथ गन्धर्व के बगीचे

देखने की आवश्यकता है। कोई तीसरी शक्ति सबको दबा रही
तो भले दबावे किन्तु हिन्दू-मुसलमान, जैन-वैष्णव अथवा
परस्पर में शांति के साथ नहीं रह सकते। युधिष्ठिर कहते हैं—प्र
भाई अपने ऊपर भले ही लाखों जुल्म करता हो, मगर यदि
भाई किसी तीसरे द्वारा दबाया जाता हो या पीड़ित किया जा
हो तो उसे पीड़ा-मुक्त करना भाई का धर्म है।

अर्जुन पहले कहता था—दुर्योधन, गंधर्व द्वारा कैद
लिया गया, यह बहुत अच्छा हुआ। परन्तु युधिष्ठिर की आ
होते ही वह गंधर्व के पास गया। उसने दुर्योधन को बंधनमुक्त क
के लिए कहा। यह सुनकर गन्धर्व ने अर्जुन से कहा—'मित्र! तुम
क्या कह रहे हो? तुम इतना भी विचार नहीं करते कि दुर्यो
बड़ा ही दुष्ट है और तुम सबको मारने के लिए जा रहा था।
स्थिति में मैंने उसे पकड़ कर कैद कर लिया है तो बुरा क्या कि
है? इसलिए तुम अपने घर जाओ और इसे छुड़ाने के प्रयत्न में
पड़ो। अर्जुन ने उत्तर दिया—दुर्योधन चाहे जैसा हो आखि
हमारा भाई ही है, अतएव उसे बंधनमुक्त करना ही पड़ेगा।'

अर्जुन तो भाई की रक्षा के लिए इस प्रकार कहता है,
आप लोग भाई भाई कोर्ट में मुकदमेबाजी तो नहीं करते?
फिर कोई कहे कि हमारा भाई बहुत खराब है तो उससे यही
जा सकता है कि वह कितना ही खराब क्यों न हो, मगर दु
के समान खराब तो नहीं है। जब युधिष्ठिर ने दुर्योधन के
भाई के प्रति इतना क्षमा और सहनशीलता का परिचय दिया
तुम अपने भाई के प्रति कितना क्षमा और सहनशीलता का प
नहीं दे सकते। मगर तुम ने भाई के प्रति इतनी क्षमा और

सीखना नहीं है और इसी कारण तुम भाई के खिलाफ न्यायालय में मुकदमा दायर करते हो! अर्जुन, भीम और द्रौपदी—तीनों दुर्योधन के बहुत खिलाफ थे, फिर भी उन्हें युधिष्ठिर के वचनों पर ऐसा दृढ़ विश्वास था तो तुम्हें भगवान के वचनों पर कितना अधिक विश्वास होना चाहिए! भगवान् कहते हैं—सिर काटने वाला वैरी भी मित्र ही है। वास्तव में तो कोई किसी का सिर काट ही नहीं सकता, किन्तु आत्मा ही अपना सिरच्छेद कर सकती है। अतः आत्मा ही अपना असली वैरी है।

अर्जुन ने गंधर्व से कहा—'भले ही तुम हमारे हित की बात करते होओ, मगर अपने भाई की बात के सामने मैं तुम्हारी बात नहीं मान सकता। मुझे अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर की बात शिरोधार्य करके दुर्योधन को तुम्हारे बंधन से छुड़ाना है। अतः तुम उसे बंधन-मुक्त कर दो। अगर यों नहीं मुक्त करना चाहते तो युद्ध करो। अगर तुमने हमारे हित के लिए ही उसे कैद कर रखा हो तो मेरा यही कहना है कि उसे छोड़ दो। मुझे उसकी करतूतें नहीं देखनी, मुझे अपने भाई की आज्ञा का पालन करना है। अतएव उसे छोड़ दो।

आखिर अर्जुन दुर्योधन को छुडा लाया। युधिष्ठिर अर्जुन पर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—'तू मेरा सच्चा भाई है।' उन्होंने द्रौपदी से कहा—देखो इस जंगल में कैसा मंगल है! इस प्रकार युधिष्ठिर ने जंगल में और संकट के समय में धर्म का पालन किया था। मगर इस पर से आप अपने विषय में विचार करो कि आप उपाश्रय में धर्म का पालन करने आते हैं या अपने अभिमान का पोषण करने आते हैं? धर्मस्थान में प्रवेश करते ही 'निस्सही'

निस्सही' कहकर अभिमान, क्रोध आदि का निषेध करना चाहिए अगर इनका निषेध किये बिना ही धर्मस्थान में आते हो तो कहना चाहिए कि आप अभी धर्मतत्त्व से दूर हैं।

भीम ने युधिष्ठिर से कहा—'गंधर्व द्वारा दुर्योधन के बंदी होने से तो हमें प्रसन्नता हुई थी। आप न होते तो हम इसी पाप में पड़े रहते।' भीम का यह कथन सुनकर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—'यह तो ठीक है, मगर अर्जुन जैसा भाई न होता तो मेरी आज्ञा कौन मानता?

तुम भी छद्मस्थ हो। तुम्हारे अन्तःकरण में इस प्रकार का विचार आना संभव है। फिर भी आज्ञा शिरोधार्य करने का ध्यान तो तुम्हें भी रखना चाहिए। भगवान की आज्ञा है कि सब को अपना मित्र समझो। अपने अपराध के लिए क्षमा माँगो और दूसरों के अपराध क्षमा कर दो। इस आज्ञा का पालन करने में ऐसी पॉलिसी का उपयोग नहीं करना चाहिए कि जिनके साथ लड़ाई-झगड़ा किया हो उनसे तो क्षमा माँगो नहीं और दूसरों से केवल व्यवहार के लिए क्षमा याचना करो। सच्ची क्षमा माँगने का और क्षमा देने का यह सच्चा मार्ग नहीं है। शत्रु हो या मित्र, सब पर क्षमाभाव रखना महावीर भगवान का महामार्ग है। भगवान के इस महामार्ग पर चलोगे तो आपका कल्याण होगा। आज युधिष्ठिर तो नहीं हैं मगर उनकी कही बात रह गई है। इस बात को तुम ध्यान में रखो और जीवनव्यवहार में लाओ। इस की बात कहने में और अमल में लाने में बड़ा अन्तर है। [illegible] को अमल करने से मालूम होगा कि इसमें कैसा और कितना [illegible] हुई है। इसी प्रकार की [illegible] किया जाय तो सफलता की [illegible]

समग्र गच्छ में हलचल पैदा कर देगी। संघबल धर्म का प्राण है। जहां संघबल नहीं होता वहां धर्म भी जीवित नहीं रह सकता।

कहने का आशय यह है कि संघ से संगति हो तो संघ बहुत कुछ काम कर सकता है, अतएव अपने सजातीय और सधर्मी भाइयों को दूर नहीं रखना चाहिए और उन्हें भी प्रेमपूर्वक अपनाना चाहिए।

आत्मा का कल्याण करने के लिए भगवान् ने संवेग में पराक्रम करने के लिए कहा है। मोक्ष की अभिलाषा करना 'संवेग' कहलाता है। अगर तुमने भव-बंधनों का स्वरूप समझा होगा और तुम्हें उन बंधनों से मुक्त हो कर मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हुई होगी तो तुम्हारे भीतर अवश्य ही संवेग जागृत होगा। जहां तक संवेग जागृत नहीं होता वहां तक मोक्ष जाने की बात केवल बात ही बात है। शास्त्र में कहा है—

वाया वीरिय मित्तेण समासासेन्ति अप्पयं।

उ० ६-६

अर्थात् जब तक संवेग जागृत नहीं होता तब तक वाणी के विलास द्वारा ही आत्मा को आश्वासन देना पड़ता है। पर बड़ी-बड़ी बातों से दिये गये आश्वासन से आत्मा को संतोष किस प्रकार हो सकता है? अतएव शास्त्र की वाणी को जीवन में ओतप्रोत करके संवेग जागृत करो अर्थात् हृदय से मोक्ष की अभिलाषा जीवित करो।

मोक्ष की अभिलाषा होना संवेग है, यह तो आप समझ गये मगर संवेग का फल क्या है यह भी जानना चाहिये इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है कि संवेग द्वारा अनुत्तर अर्थात्

निस्सही' कहकर अभिमान, क्रोध आदि का निषेध करना चाहिए। अगर इनका निषेध किये बिना ही धर्मस्थान में आते हो तो कहना चाहिए कि आप अभी धर्मतत्त्व से दूर हैं।

भीम ने युधिष्ठिर से कहा—'गंधर्व द्वारा दुर्योधन के कैद होने से तो हमें प्रसन्नता हुई थी। आप न होते तो हम इसी पाप में पड़े रहते।' भीम का यह कथन सुनकर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया- 'यह तो ठीक है, मगर अर्जुन जैसा भाई न होता तो मेरी आज्ञा कौन मानता?

तुम भी छद्मस्थ हो। तुम्हारे अन्तःकरण में इस प्रकार का पाप आना संभव है। फिर भी आज्ञा शिरोधार्य करने का ध्यान तो तुम्हें भी रखना चाहिए। भगवान् की आज्ञा है कि सब को अपना मित्र समझो। अपने अपराध के लिए क्षमा माँगो और दूसरों के अपराध क्षमा कर दो। इस आज्ञा का पालन करने में ऐसी पॉलिसी का उपयोग नहीं करना चाहिए कि जिनके साथ लड़ाई-झगड़ा किया हो उनसे तो क्षमा माँगो नहीं और दूसरों से केवल व्यवहार के लिए क्षमा याचना करो। सच्ची क्षमा माँगने का और क्षमा देने का यह सच्चा मार्ग नहीं है। शत्रु हो या मित्र, सब पर क्षमाभाव रखना ही महावीर भगवान का महामार्ग है। भगवान् के इस महामार्ग पर चलोगे तो आपका कल्याण होगा। आज युधिष्ठिर तो रहे नहीं मगर उनकी कही बात रह गई है; इस बात को तुम ध्यान में रखो और जीवनव्यवहार में उतारो। धर्म की बात कहने में और धर्म को अमल में लाने में बड़ा अन्तर है। धर्म का अमल करने से मालूम होगा कि धर्म में कैसी और कितनी शक्ति रही हुई है! इसी प्रकार संघ का बल संगठित करके व्यवहार किया जाय तो संघबल की शक्ति

सम राष्ट्र में हलचल पैदा कर देती । संघबल धर्म का प्राण है । जहां संघबल नहीं होता वहां धर्म भी जीवित नहीं रह सकता ।

कहने का आशय यह है कि संघ से संगति हो तो संघ बहुत कुछ काम कर सकता है, अतएव अपने सजातीय और सधर्मी भाइयों को दूर नहीं रखना चाहिए और उन्हें भी प्रेमपूर्वक अपनाना चाहिए ।

आत्मा का कल्याण करने के लिए भगवान् ने संवेग में पराक्रम करने के लिए कहा है । मोक्ष की अभिलाषा करना 'संवेग' कहलाता है । अगर तुमने भव-बंधनों का स्वरूप समझा होगा और तुम्हें इन बंधनों से मुक्त हो कर मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हुई होगी तो तुम्हारे भीतर अवश्य ही संवेग जागृत होगा । जहां तक संवेग जागृत नहीं होता वहां तक मोक्ष जाने की बात केवल बात ही बात है । शास्त्र में कहा है—

वाया वीरिय मित्तेण समासासेन्ति अप्पयं ।

उ० ६-६

अर्थात् जब तक संवेग जागृत नहीं होता तब तक वाणी के विलास द्वारा ही आत्मा को आश्वासन देना पड़ता है । पर बड़ी-बड़ी बातों से दिये गये आश्वासन से आत्मा को संतोष किस प्रकार हो सकता है ? अतएव शास्त्र की वाणी को जीवन में ओतप्रोत करके संवेग जागृत करो अर्थात् हृदय से मोक्ष की अभिलाषा जीवित करो ।

मोक्ष की अभिलाषा होना संवेग है, यह तो आप समझ गये मगर संवेग का फल क्या है ? यह भी जानना चाहिये इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है कि संवेग द्वारा अनुत्तर अर्थात्

प्रधान धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। प्रधान धर्म मोक्ष धर्म है, क्योंकि मोक्ष के सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु अनुत्तर वस्तु नहीं है। मोक्ष ही परम पुरुषार्थ कहलाता है। चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ अनुत्तर है। संवेग द्वारा इसी मोक्ष धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। जब मोक्षधर्म पर दृढ़ श्रद्धा पैदा होती है, तब मोक्ष धर्म के सामने संसार के समस्त पदार्थ स्वभावतः तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं।

आपको यह तो भलिभांति विदित ही है कि एक रुपये के मुकाबले एक आना की कितनी कीमत है? आपको एक आना के बदले एक रुपया मिलता हो तो आप एक आना का त्याग करने के लिए तैयार हो जाएँगे या नहीं? और एक गिन्नी मिलती हो तो एक रुपये को, हीरा मिलता हो तो एक गिन्नी को और चिन्तामणि रत्न मिलता हो तो एक हीरे को त्यागने के लिए तैयार हो जाओगे या नहीं? जैसे इनका त्याग करने को तैयार हो जाते हो उसी प्रकार अनुत्तर धर्म के बदले में तुम संसार की सभी चीजों का त्याग करने के लिए तैयार हो जाओगे। इस त्याग के पीछे भी श्रद्धा काम कर रही है। एक आना की अपेक्षा एक रुपया का मूल्य अधिक है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा तुम्हारे भीतर होगी तो ही तुम एक आना का त्याग कर सकोगे, अन्यथा नहीं। इसी भाँति अगर तुम्हें दृढ़ श्रद्धा होगी कि मोक्षधर्म अनुत्तर है अर्थात् मोक्षधर्म से श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है, तभी तुम संसार को वस्तुओं का त्याग कर सकोगे। नहीं तो संसार के प्रलोभनों से छूटना बहुत कठिन है। मोक्ष धर्म पर दृढ़ श्रद्धा हो तो ही सांसारिक प्रलोभनों पर विजय प्राप्त की जा सकती है और उससे छुटकारा पाया जा सकता है।

अनुत्तर धर्म वही है जो भव-बंधनों से मुक्ति देता है, परतन्त्रता से मुक्त करके स्वतन्त्रता प्राप्त कराता है और पतितावस्था में

और पाप में से कीमती क्या है ? अगर आप धर्म को कीमती मानते हैं तो धर्म को छिपाइए और पाप को प्रकट कीजिये। जब आप पाप को प्रकट करोगे तो आपमें अद्भुत नम्रता आ जाएगी। धर्म या शुभ कार्य का निर्णय तो जल्दी नहीं कर सकते, पर पाप का निर्णय तो कर सकते हो! अपने पाप को देव, गुरु और धर्म की साक्षी से प्रकट करोगे तो आपमें दीनता आएगी और जब सचमुच अन्तःकरण में दीन बनोगे तभी परमात्मा की प्रार्थना करने के योग्य बनोगे। अगर दीन बनकर परमात्मा की प्रार्थना करने की योग्यता सम्पादन करना है तो परमात्मा के प्रति ऐसी प्रार्थना करो—

> श्री मुनिसुव्रत साहबा, दीनदयाल देवातणा देव के,
> तरण-तारण प्रभु तो भणी, उज्ज्वल चित्त सुमरूं नितमेव के।

परमात्मा दीनदयाल कहलाता है तो दीनदयाल की दया प्राप्त करने के लिए दीन बनना ही पड़ेगा। जब दीनदयाल परमात्मा के समक्ष भक्त दीन बन जाता है तो हृदय में अहंकार या अभिमान रह सकता है ? सच्चे हृदय से परमात्मा के आगे दीन बनने पर अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ टिक नहीं सकते। अतएव क्रोध आदि कषाय को दूर करने के लिए अपने पापों की हृदय में आलोचना करना चाहिए।

आलोचना पाप की होती है। धर्म की आलोचना नहीं होती। मगर आज उलटी गंगा बह रही है। लोग धर्म की आलोचना करते हैं और पाप दबाया या छिपाया जाता है। धर्म की आलोचना करना अर्थात् अपने शुभ कार्यों की स्वयमेव प्रशंसा करना और समाचार पत्रों में अपना छपा हुआ नाम देखने की लालसा

बाहर निकाल दे तो तुम्हें अच्छा लगेगा या बुरा? कदाचित् तुम कहोगे कि हमारे पैर में काँटा लगा हो और कोई निकाल दे तो ठीक है, मगर काँटा तो न लगा हो फिर भी कोई कहे कि काँटा लगा है तो क्या हमें बुरा नहीं लगना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि जब तुम जानते हो कि मुझे काँटा नहीं लगा है तो फिर दूसरे के कथन पर ध्यान ही क्यों देते हो? ऐसी स्थिति में तो दूसरों की बात पर कान ही नहीं देना चाहिए। तुमने अपने सिर पर सफेद टोपी पहनी है और दूसरा कोई तुम्हें काली टोपी वाला कहे तो तुम्हें खराब लगने का क्या कारण है? ऐसे अवसर पर तुम यही सोचोगे कि मेरे सिर पर सफेद साफा है, अतः वह किसी और को काली टोपी वाला कहता होगा! इसमें मुझे क्या सरोकार है? इस प्रकार विचार करना समदृष्टि का लक्षण है। आत्मा जब इस प्रकार समदृष्टि के मार्ग पर प्रयाण करेगा तभी अपना कल्याण साध सकेगा। कुटिलता और क्रूरता के व्यवहार से आत्मा का कल्याण साध्य नहीं है।

अनुभव धर्म पर श्रद्धा रखने वाला किस प्रकार धर्म पर दृढ़ रहता है, यह बात समझने के लिये शास्त्र में वर्णित कामदेव श्रावक के चरित पर दृष्टि दीजिए। कामदेव पर पिशाचरूपधारी देव कुपित हुआ था। उसने कामदेव से अनेक कटुक वचन कहे थे। पिशाच ने कहा था— अप्रार्थितप्रार्थिया! तू अपना धर्म छोड़ दे, अन्यथा तुझे मार डालूंगा। मगर कामदेव विचार करता था— [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

त्मा दर्शन की आराधना नहीं कर सकता जब मिथ्यात्व का कारण मिट जायगा और कारण मिटने से मिथ्यात्व मिट जायगा तो दर्शन की आराधना भी हो सकेगी मिथ्यात्व मिटाकर दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करना अपने ही हाथ की बात है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ न रहने से मिथ्यात्व भी नहीं रहेगा और जब मिथ्यात्व नहीं रहेगा तो दर्शन की आराधना भी हो सकेगी। अनन्तानुबन्धी क्रोधादि को दूर करना भी अपने ही हाथ की बात है कषाय को दूर करने से मिथ्यात्व दूर होता है और दर्शन की आराधना होती है। विशुद्ध दर्शन की आराधना करने वाले को कोई धर्मश्रद्धा से विचलित नहीं कर सकेगा, इतना ही नहीं किन्तु जैसे अग्नि में घी की आहुति देने से अग्नि अधिक तेज बनती है उसी प्रकार धर्मश्रद्धा से विचलित करने का ज्यों-ज्यों प्रयत्न किया जायगा, त्यों-त्यों धर्मश्रद्धा अधिक दृढ़ और तेजपूर्ण होती जायगी। धर्मश्रद्धा में किस प्रकार दृढ़ रहना चाहिये, इस विषय में कामदेव श्रावक का उदाहरण दिया ही जा चुका है। धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने से और दर्शन की विशुद्ध आराधना करने से आत्मा उसी भव में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

कुछ लोग शून्यता को ही मोक्ष कहते हैं। जैनशास्त्र ऐसा नहीं मानता। जैनशास्त्रों का कथन है कि आत्मा के कर्म आवरण हट जाने पर आत्मा की समस्त शक्तियों का प्रकट हो जाना और आत्मा का दुःख से विमुक्त होना ही मोक्ष है। आत्मा जब तक दुःख से विमुक्त नहीं होता तब तक उसे विविध प्रकार के दुःख भोगने ही पड़ते हैं। श्री भगवती सूत्र में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है कि—'हे भगवन ! दुखी दुःख का स्पर्श करता है या सुखी दुःख को स्पर्श करता है?' इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—'हे

करके कर्मों का नाश करता है, वह इसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है। कर्म शेष रह जाने के कारण अगर इसी भव में मोक्ष न हो तो तीसरे भव में मोक्ष होता है। भगवतीसूत्र में प्रश्न किया गया है—'भगवन्! दर्शन का उत्कृष्ट आराधक कब मोक्ष जाता है? भगवान् ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा है—जघन्य उसी भव में और उत्कृष्ट तीसरे भव में मोक्ष जाता है।' इस उत्तर से स्पष्ट है कि चाहे उसी भव में मोक्ष हो चाहे तीसरे भव में, मगर अनुत्तर धर्मश्रद्धा व्यर्थ नहीं जाती। फल चाहे जब मिले किन्तु कोई भी सत्कार्य निष्फल नहीं होता। गीता में कहा है—

न हि कल्याणकरः कश्चिद् दुर्गतिं तात! गच्छति।

अर्थात् कल्याणकारी कार्य कदापि व्यर्थ नहीं जाता। बोया हुआ धर्म-बीज चाहे अभी उगे या देर से, किन्तु उगे बिना नहीं रहता।

आजकल तो धर्म में भी बनियापन काम में लाया जाता है। जैसे व्यापारी नकद रुपया देकर चीज़ खरीदने वाले ग्राहक पर प्रसन्न रहता है उसी प्रकार लोग धर्म के द्वारा तात्कालिक फल की आशा रखते हैं। उनका कथन है कि धर्म का फल तत्काल मिल जाय तब तो ठीक है, अन्यथा कौन जाने परलोक में फल मिलेगा या नहीं! इस प्रकार धर्म पर अविश्वास रखने से फल की हानि होती है। धर्म का फल भले ही परंपरा से मिले किन्तु उसका फल अवश्य मिलता है। किसी की भूख भोजन का एक ही कौर खाने से नहीं मिटजाती। पहले कौर से भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और भोजन के कौर से मेरी भूख मिट जायगी ऐसा विश्वास पैदा होता है। ऐसे विश्वास के साथ ही आगे भोजन किया जाता है और इसी प्रकार

दूसरा बोल

निर्वेद

जिसके अन्तःकरण में संवेग जागृत हो जाता है, वह वचन-वीर ही नहीं रहता, वरन् अपने विचारों को मूर्त रूप देकर कार्यवीर बनता है। वास्तव में वही सच्चा वीर पुरुष है जो कहने के अनुसार कर दिखलाता है। मुँह से कह देने मात्र से कोई लाभ नहीं हो सकता। अच्छे कार्य को जीवन में अवतरित करने से ही आत्मा को लाभ पहुँचता है। अतएव जिसमें संवेग की जागृति हुई होगी वह वचनवीर ही नहीं रहेगा किन्तु अपने वचन के अनुसार कार्य करके बतलाएगा।

भगवान् कहते हैं—मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न होने पर संवेग पैदा होगा और संवेग पैदा होने पर निर्वेद अर्थात् विषयों के प्रति उदासीनता उत्पन्न होगी। अतएव अब निर्वेद के विषय में विचार किया जाता है

मूल पाठ

प्रश्न-निव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर-निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु

निव्वेयं हव्वमागच्छइ, सव्वविसएसु विरज्जइ, सव्वविसएसु

आ रहा है। अब क्या करना चाहिये सो कुछ नहीं सूझता!" राजा के महल में आने के समाचार सुनते ही ललितांग भय से कांपने लगा। उसने दीनतापूर्वक रानी से कहा-'मुझे जल्दी से कहीं न कहीं छिपाओ। राजा ने मुझे देख लिया तो शरीर के टुकड़े-टुकड़े करवा डालेगा। क्षत्रिय का और उसमें भी राजा का कोप बड़ा ही भयंकर होता है।' रानी बोली-'इस समय तुम्हें कहाँ छिपाऊँ! ऐसी कोई जगह भी तो नहीं दीखती जहाँ छिपा सकूं। अलबत्ता, पाखाने में छिपने लायक थोड़ी जगह है। राजा पाखाने की तरफ नजर भी नहीं करेगा और जब वह चला जायगा तो मैं बाहर निकाल लूंगी।'

पाखाने में रहने की इच्छा किसे होगी? किसी को नहीं तो फिर सुगंध में रहने वाले ललितांग को पाखाने में रहना क्यों स्वीकार हुआ? इसका एकमात्र कारण था भय! पाप में निर्भयता कहाँ? ललितांग पापजन्य भय के कारण पाखाने में छिपने के लिए विवश हो गया। रानी ने अपनी दासी से कहा-'इन्हें पाखाने में छिपा आ।' रानी की आज्ञा से दासी ने ललितांग के पैरों में रस्सी बाँधकर उसे उलटा लटका दिया। जब ललितांग को पाखाने में उलटा लटकाया गया होगा तो कौन जाने उसकी क्या दशा हुई होगी!

राजा, रानी के महल में आया और रानी के साथ कुछ खानपान करके लौट गया। रानी को या तो ललितांग की कायरता देखकर घृणा हुई या वह उसे भूल गई अथवा और कोई कारण हुआ, जिससे उसने पाखाने में से ललितांग को नहीं निकाला। ललितांग को लटके-लटके बहुत समय व्यतीत हो गया।

पानी का निकास उसी पाखाने में होकर था। वर्षा होने के कारण पाखाने में जो पानी पहुँचा, उससे सूखा मल भी गीला हो

गया और नीचे गिरने लगा। ललितांग उस मल से लिप्त हो गया। ऐसी मुसीबत में फँसा हुआ ललितांग आखिर डोरी टूटने से नीचे गिर पड़ा और बेहोश हो गया।

महतरानी, जो राजा और ललितांग के भी घर काम करती थी, पाखाना साफ करने आई। जैसे ही वह पाखाना साफ करने आई। जैसे ही वह पाखाना साफ करने भीतर घुसी कि ललितांग नजर आया। देखते ही वह पहचान गई। उसने सोचा—हमारे सेठ का कुमार यह ललितांग और यहाँ पाखाने में पड़ा है! वह उसके पाँव सेठ के घर दौड़ी। सेठ से कहा—तुम जिसकी चिन्ता करते थे, वह ललितांग कुमार तो राजा के पाखाने में पड़ा है! सेठ सोचने लगा—ललितांग वहाँ किस प्रकार पहुँचा होगा! खैर, जो हुआ सो हुआ, मगर अभी तो उसे शीघ्र ही घर लाना उचित है। सेठ कुछ आदमियों को साथ ले वहाँ पहुँचा और ललितांग को घर उठा लाया। उस समय ललितांग की स्थिति अत्यन्त नाजुक थी, पर यथोचित उपचार कराने से वह मरते-मरते बच गया। धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ करके उसने अपनी पूर्व-स्थिति प्राप्त कर ली।

स्वस्थ होने के पश्चात् ललितांग घोड़ागाड़ी में बैठकर घूमने निकला। फिर रानी की दृष्टि ललितांग पर जा पड़ी। उसे देखते ही वह सोचने लगी—मैंने बहुत बड़ी भूल की! यह पुरुष तो मोरने योग्य है। [illegible] अपनी दासी उसके पास भेजी और महल में [illegible]। मगर ललितांग, जो बहुत [illegible] रानी के पास उसे [illegible] तुम्हारी सलाह पूरी अच्छी [illegible] बुद्धिमान पुरुष वही

माता-पिता के उपकार का विचार आने पर मुझे एक पुरान
कविता याद आ जाती है:—

डगमग पग टकतो नहीं, खाई न सकतो खाद।
उठी न सकतो आप थी, लेश हती नहिं लाज॥
ते अवसर आणी दया, बालक ने माँ-बाप।
सुख आपे दुख वेठीने, ते उपकार अमाप॥
कोई करे एवा समे, ये घड़ी एक बरदाम।
आखी उंमर थई रहे, ते नर नो नर दाम॥

गर्भावस्था में या बाल्यावस्था में घड़ी-दो घड़ी सहायत
करने वाले सहायक का उपकार मनुष्य जितना माने, उतना ही थोड़
है। तो फिर जिन माता-पिता ने ऐसे समय में सब प्रकार की सहायत
और सुविधा प्रदान की है, उनका कितना अपरिमित उपकार है, इस
बात का जरा विचार तो कीजिए!

गर्भस्थान के कारागार में हम लोग बाहर निकले और
माता-पिता की छत्र-छाया तले सुखपूर्वक बढ़ते-बढ़ते इस स्थिति में
आये हैं। यह स्थिति पाकर हमारा कर्त्तव्य क्या है, इस बात का
जरा गहराई से विचार करना चाहिये। हम जिस कैदखाने में बन्
रह चुके हैं, फिर उसी में बन्द होना उचित है अथवा ऐसा मार्ग
खोजना उचित है कि फिर कभी उसमें बन्द न होना पड़े? भगवान
ने संवेग के साथ निर्वेद का होना इसीलिए आवश्यक बतलाया है
कि जिससे फिर कैदखाने में बन्द न होना पड़े। अतएव देवों, मनु
ष्यों और तिर्यंचों के कामभोगों में सच्चा सुख मत समझो। य
कामभोग तो संसार-परिभ्रमण कराने वाले हैं। इनसे निवृत्त होने में
ही कल्याण है। अगर ललितांग चतुर होगा तो वह फिर कभी ऐस

ऐसे फल की कभी कामना नहीं करनी चाहिये। जैसे किसान निष्काम भाव से खेत में बीजारोपण करता है, उसी प्रकार कामना-हीन बुद्धि से धर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। सांसारिक सुख रूप फल की कामना कदापि नहीं करना चाहिये। किसान को यह निश्चय नहीं होता कि मेरे बीजारोपण का परिणाम इस प्रकार का आएगा, मगर उसे यह विश्वास अवश्य होता है कि बीज अगर अच्छा है तो फल खराब नहीं आयेगा। यद्यपि किसान यह नहीं जानता कि मेरे बोने से कितना फल उत्पन्न होगा, फिर भी वह बीजारोपण करता ही है। इसी प्रकार व्यापारी को भी पहले से ही यह निश्चय नहीं होता कि मेरे व्यापार से मुझे इतना लाभ होगा, फिर भी वह व्यापार में प्रवृत्ति करता ही है। हम लोगों को भी, इस लोक में अथवा परलोक में ऐसा फल मिलेगा, ऐसी कामना से कार्य नहीं करना चाहिये; वरन् फल की परवाह न करते हुये कार्य करते रहना चाहिये। सारांश यह है कि इन्द्रियजनित सुख की आकांक्षा न करना ही निष्काम कर्म करने का आशय है और फल को जाने बिना मूर्ख भी प्रवृत्ति नहीं करता, इस कथन का आशय यह है कि इन्द्रियजनित सुख रूप नहीं किन्तु उससे पर अर्थात् अतीन्द्रिय सुखरूप और ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित फल को सामने रखकर ही कार्य में प्रवृत्ति करनी चाहिये।

निर्वेद से क्या लाभ होगा? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है—निर्वेद से देव, मनुष्य और तिर्यच सम्बन्धी कामभोगों के प्रति अरुचि उत्पन्न होगी। जीवन में निर्वेद उत्पन्न होने पर ही विचार आने लगता है कि कब मैं अनित्य और अशुचि के भंडार के समान कामभोगों का परित्याग करूँ! इस तरह सांसारिक सुखों से निवृत्ति ही निर्वेद का फल है।

भीतर ही भीतर विषयलालसा को पुष्ट करना सच्चा निर्वेद या वैराग्य नहीं किन्तु ढोंग है।

सच्चा निर्वेद या वैराग्य तभी समझना चाहिये जब विषयों पर विरक्ति हो जाय और अन्तःकरण में तनिक भी विषयों की लालसा न रहे। इस प्रकार निर्वेद का तात्कालिक फल कामभोगों से मन का निवृत्त होना है।

भगवान का कथन है कि जब जीवन में निर्वेद उत्पन्न होता है तब संसार में जितने भी विषयभोग हैं, उन सभी से मन निवृत्त हो जाता है। परन्तु कोई पुरुष विषयभोगों से निवृत्त हुआ है या नहीं, इसकी पहचान क्या है? क्या कोई ऐसा चिह्न है, जिससे निर्वेद की पहचान की जा सके? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिसमें निर्वेद होता है और जो विषयभोगों से उपरत हो जाता है, वह आरम्भ-परिग्रह से भी मुक्त हो जाता है अर्थात् वह आरम्भ-परिग्रह का भी त्याग कर देता है।

अन्य प्राणियों को कष्ट देना आरम्भ है और पर पदार्थ के प्रति ममता होना परिग्रह है। यह आरम्भ और परिग्रह का संक्षिप्त अर्थ है। आरम्भ और परिग्रह से तभी मुक्ति मिल सकती है जब विषयभोगों से मन निवृत्त हो जाय और विषयभोगों से मन तब निवृत्त होता है जब आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया जाय। आरम्भ-परिग्रह का त्यागी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्षमार्ग को स्वीकार करके भवभ्रमण से बच जाता है। इस प्रकार निर्वेद का पारंपरिक फल मोक्ष है और तात्कालिक फल विषयभोग से निवृत्ति है।

कदाचित् अचानक नजर चली जायगी तो वह विचार करेगा—'इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से ऐसा अनुपम सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। किन्तु बेचारी मोह में पड़कर अपना इतना सुन्दर शरीर थोड़े-से पैसों के बदले बेच देती है—जो चार पैसे देता है उसी को सौंप देती है। यह कैसी मोहदशा है! अगर इसने अपना शरीर परमात्मा के पवित्र चरणों में अर्पण कर दिया होता और धर्मध्यान किया होता तो क्या इसका कल्याण न हो गया होता?' इस प्रकार विचार कर ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान की वृद्धि करते हैं। किंतु अज्ञानी पुरुष वेश्या को देखकर तरह-तरह के कुत्सित और मलीन विचारों में डूब जाते हैं और पाप का उपार्जन करते हैं। इस प्रकार सांसारिक पदार्थ ज्ञानियों का ज्ञान बढ़ाते हैं और अज्ञानियों का अज्ञान बढ़ाते हैं।

ज्ञानी पुरुष पदार्थ का मूल खोजते हैं। एक उपदेशक ने तो यहाँ तक कह डाला है कि 'अगर स्त्रियों को देखकर हम अपने हृदय में उठने वाले खराब विचारों को नहीं रोक सकते तो ऐसी स्थिति में अपनी आँखों को फोड़ डालना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है।' इस उपदेश के अनुसार घटित हुई घटना भी सुनी जाती है। कहा जाता है कि सूरदास ने इसी विचार से अपनी आँखें फोड़ ली थीं। इस प्रकार किसी भी वस्तु के विषय में अगर ज्ञानपूर्वक विचार करने की क्षमता न हो तो उस वस्तु की ओर दृष्टि न देना ही उचित है। ऐसा करते करते मोह कम हो जायगा। वीतराग भगवान् किस चीज को नहीं देखते? उनकी दृष्टि में सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। इस विचार को सामने रखकर किसी भी पदार्थ को देखकर वीतराग का ध्यान करना चाहिये और व्यवहार के लिये उन पदार्थों की ओर से आँख कान फेर लेना चाहिये।

सम्बन्ध में जो कहा गया है, उसका सार यही है कि संवेग से निर्वेद उत्पन्न होता है और निर्वेद से धर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है। अर्थात् जिस व्यक्ति में सच्चा संवेग होता है उसमें निर्वेद अवश्य होता है और जिसमें निर्वेद होता है उसमें धर्मश्रद्धा अवश्य होती है। इस प्रकार संवेग, निर्वेद और धर्मश्रद्धा में पारस्परिक सम्बन्ध है। आगे सम्यक्त्वपराक्रम के तीसरे बोल के विषय में विचार किया जाता है।

करना, परधन और परस्त्री का अपहरण करना तो साफ अधर्म है, फिर भले ही वह धर्म के नाम पर ही क्यों न प्रसिद्ध किया जाय।

धर्म तो इस विचार में है कि—मैं स्वयं तो असत्य बोलूँगा ही नहीं, अगर कोई दूसरा मुझ से असत्य बोलेगा तो भी मैं असत्य नहीं बोलूँगा। मैं स्वयं तो किसी की चीज का अपहरण करूँगा ही नहीं, अगर मेरी वस्तु का कोई अपहरण करेगा तो भी मैं यह विचार तक नहीं करूँगा कि मैं उसकी किसी वस्तु का अपहरण करूँ, उसका कुछ बिगाड़ करूँ। मैं किसी पर क्रोध भी नहीं करूँगा। मैं थप्पड़ का बदला थप्पड़ से नहीं, प्रेम से दूंगा। जिसके अन्तःकरण में धर्म का वास होगा, वह इस प्रकार का विचार करेगा। जो लोग धर्म के नाम पर थप्पड़ का बदला थप्पड़ से देते हैं अथवा परधन और परस्त्री के अपहरण की चिन्ता में दिनरात डूबे रहते हैं वही लोग धर्म की निन्दा कराते हैं।

दूसरों की बात जाने दीजिए, सिर्फ आप अपनी आत्मा से प्रश्न कीजिए—'आत्मन्! तू धर्म की निन्दा करवाती है या प्रशंसा? अगर आप धर्म की प्रशंसा कराना चाहते हैं तो विचार कीजिए कि आपको कैसा व्यवहार करना चाहिए? आप भूलकर भी कभी ऐसा व्यवहार मत कीजिये जिससे धर्म की निन्दा हो। सदा ऐसा ही व्यवहार कीजिए जिससे धर्म की प्रशंसा हो। इस प्रकार धर्मोदय का विचार करके सद्व्यवहार कीजिए। धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने का परिणाम यह होता है कि साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले सुख के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और हृदय में यह भावना प्रबल होने लगती है कि मैं अपने सुख के लिए किसी और को दुःख नहीं पहुंचा सकता। सच्चा धर्म तो दूसरों को सुख पहुंचाना

है। इस तरह विचार करके धर्मश्रद्धालु व्यक्ति भोगों से विरक्त होगा और दूसरों के सुख के लिए आप कष्ट सहन करेगा।

भर्तृहरि ने कहा है कि दृढ़धर्मी सत्पुरुष पराये हित के लिए स्वयं कष्ट सहन करते हैं। लोग 'धर्म-धर्म' चिल्लाते हैं, मगर धर्म के इस मौखिक उच्चार से धर्म नहीं आ जाता। जीवन में धर्म मूर्त्त स्वरूप तभी धारण करता है जब अपने सुख का बलिदान करके दूसरों को सुख दिया जाता है और दूसरों को दुःख से बचाने के लिए सातावेदनीय के उदय से प्राप्त होने वाले सुखों का भी परित्याग कर दिया जाता है।

धार्मिक दृष्टि से, दूसरों से पैसा लेना अच्छा है या दूसरों को पैसा देना अच्छा है? यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जायगा कि पैसा देना अच्छा है—लेना नहीं, लेकिन इस उत्तर को व्यवहार में सक्रिय रूप दिया जाता है या नहीं, यह विचारणीय है। व्यवहार में तो हाय पैसा, हाय पैसा की ध्वनि ही सर्वत्र सुनाई पड़ती है। फिर भले ही दूसरों का कुछ भी हो—वे चाहे जीवें या मरें। जब इस प्रवृत्ति में परिवर्त्तन किया जाय और दूसरों के सुख में ही सुख मानने की भावना उद्भूत हो और अपने सुख के लिए दूसरे को दुःख देने की भावना बदल जाय, तब समझना चाहिए कि धर्मश्रद्धा का फल हमें प्राप्त हो गया है।

आज तो धर्म के विषय में यही समझा जाता है कि जिससे अष्टसिद्धि और नव निधि प्राप्त हो, वही धर्म है। अष्टसिद्धि और नवनिधि का मिलना ही धर्म का फल है। किन्तु शास्त्रकार जो बात बतलाते हैं, वह इससे विपरीत है। शास्त्रकारों का कथन यह है कि धर्मश्रद्धा का फल सातावेदनीय के उदय से प्राप्त होने वाले सुखों से विरक्त होना है।

अवश्य पाया जाता है। उसने इसी भव में अपनी आत्मा का कल्याण साध लिया था। सुदर्शन सेठ ने अर्जुन माली के विषय में विचार किया—यह मान भूला हुआ है और इसी कारण दूसरों की हत्या करता है। ऐसे का सुधार करना ही तो मेरा धर्म है। इस प्रकार विचार कर अर्जुन माली को सुधारने के लिए आप ध्यानस्थ होकर बैठ गया। अर्जुन माली जब मुद्गर लेकर मारने आया तो सेठ ने विचार किया—'अगर मुझ में सच्ची धर्मनिष्ठा हो तो अर्जुन के प्रति लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न न हो।' इस प्रकार की उच्च भावना करके और अपने सर्वस्व का त्याग करके भी अर्जुन माली जैसे अधम का उसने उद्धार किया। हालांकि सुदर्शन का शरीर नष्ट नहीं हो गया, फिर भी उसने अपनी ओर से तो त्याग कर ही दिया था। जिस सुदर्शन ने अर्जुन माली जैसे अधम का उद्धार किया था, उसने गृहस्थ होते हुए भी परमात्मा से यही प्रार्थना की थी कि—'हे प्रभो! मेरे अन्तःकरण में अर्जुन के प्रति तनिक भी द्वेष न उत्पन्न हो।' इसी सद्भावना के प्रताप से अर्जुन विनाशक के बदले उसका सेवक बन गया। सुदर्शन की सद्भावना ने अर्जुन माली जैसे नरघातक को भी सब का रक्षक बना दिया। क्या सद्भावना की यह विजय साधारण है?

जो सद्भावना आसुरी प्रकृति को भी दैवी बना सकती है, उस सद्भावना को अपने अपने जीवन में प्रकाशित करो तो आपका कल्याण अवश्य होगा। जहाँ ऐसी सद्भावना है वहाँ सच्ची धर्म-श्रद्धा है। इस प्रकार सद्भावना धर्मश्रद्धा की कसौटी है। सच्ची धर्मश्रद्धा को अपने जीवन में जिसे प्राप्त करना है उसे दुर्भावना का त्याग कर इसी प्रकार की सद्भावना प्राप्त करना चाहिए।

मूल प्रश्न है—धर्मश्रद्धा का फल क्या है? इस संबंध में थोड़ी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। मगर इस विषय में थोड़ा और विचार

ना आवश्यक है। आज बहुत से लोग धर्म के फल के सम्बन्ध में गड़बड़ में पड़े हुए हैं। कुछ लोगों ने समझ रक्खा है कि धर्म का फल इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति अर्थात् सांसारिक ऋद्धि-सिद्धि आदि मिलना है। पुत्रहीन को पुत्र की प्राप्ति हो, निर्धन को धन प्राप्त हो, इसी प्रकार जिसे जिस वस्तु की अभिलाषा है उसे वह प्राप्त होजाय तो समझना चाहिए कि धर्म का फल मिल गया ! ऐसा होने पर ही श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। जैसे भोजन करने से तत्काल भूख मिट जाती है, पानी पीने से प्यास बुझ जाती है, इसी प्रकार धर्म से भी आवश्यकताओं की पूर्ति हो तभी धर्म पर श्रद्धा जाग सकती है।

इस प्रकार धर्म से पुत्र-धन आदि की आशा रखने वालों से शास्त्रकार कहते हैं कि तुमने अभी धर्म तत्त्व समझा ही नहीं है। कुंभार जब मिट्टी लेकर घड़ा बनाने बैठता है तब वह मिट्टी में से हाथी-घोड़ा निकलने की आशा नहीं रखता। जुलाहा सूत लेकर कपड़ा बुनने बैठता है तो सूत में से तांबा-पीतल निकलने की आशा नहीं रखता। किसान बड़े परिश्रम से खेती करता है, मगर पौधों में से हीरा-मोती निकलने की आकांक्षा वह नहीं रखता। कुंभार, जुलाहा और किसान भी ऐसी भूल नहीं करते तो धर्मात्मा कहलाने वाले लोग धर्म से पुत्र या धन की प्राप्ति की आशा किस प्रकार रख सकते हैं ? [illegible] है कि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। [illegible] नहीं उससे वह कैसे पैदा होगा ? [illegible]

करता तो फिर धर्म के विषय में ही यह भूल क्यों हो रही है ? जो धर्म संसार का कारण ही नहीं है उसमें सांसारिक कार्य होने की इच्छा क्यों की जाती है ?

तो फिर धर्मश्रद्धा का वास्तविक फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने बतलाया है कि—'धर्मश्रद्धा का फल संसार के पदार्थों के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है।' धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने पर सांसारिक पदार्थों के प्रति रही हुई रुचि हट जाती है—अरुचि उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति में संसार के भोगविलास एवं भोग-विलास के साधन सुखप्रद प्रतीत नहीं होते। लोग धर्मश्रद्धा के फल-स्वरूप मोह या विकार की आशा रखते हैं, परन्तु शास्त्र कहता है कि धर्मश्रद्धा का फल सांसारिक पदार्थों के प्रति अरुचि जागना है। कहाँ तो सांसारिक पदार्थों के प्रति निर्ममत्व और कहाँ सांसारिक पदार्थों की चाह ! धर्म से इस प्रकार विपरीत फल की आशा रखना कहाँ तक उचित है ?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आजकल धर्म की जो अवहेलना हो रही है, उसका एक कारण धर्म के स्वरूप को न समझना है। लोगों को यह भी पता नहीं कि धर्म किस कार्य का कारण है ? धर्म सम्बन्धी इस अज्ञान के कारण ही धर्म से विपरीत फल की आशा की जाती है। जब विपरीत फल मिलता नहीं तो धर्म के प्रति अरुचि पैदा होती है।

हमारे अन्तःकरण में धर्मश्रद्धा है या नहीं, इस बात की परीक्षा करने का 'धर्मामीटर' सातावेदनीय के सुखों के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है। आप इस 'धर्मामीटर' द्वारा अपनी जाँच कीजिए कि वास्तव में आप में धर्मश्रद्धा है या नहीं। अगर आप में धर्मश्रद्धा होगी तो सातावेदनीय जन्य सुखों के प्रति आपको अरुचि अवश्य होगी।

इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर बहुतमे लोग धर्म की अपेक्षा विज्ञान को अधिक महत्व देते हैं। धर्म, वस्तु का स्वभाव है। अतएव जिस वस्तु में जो स्वभाव है, उचित कारण-कलाप मिलने पर अवश्य ही उसका प्राकट्य होता है। इस दृष्टि से विज्ञान को कौन नहीं मानता? परन्तु जो विज्ञान धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ और सकल सुखदाता माना जाता है, वह वास्तव में ही सुखदायक है या दुःखदायक? इस प्रश्न पर यहाँ विचार करना आवश्यक है। जिस विज्ञान ने जितनी सुख-सामग्री प्रस्तुत की है, उसी विज्ञान ने संहारक-सामग्री भी उतनी ही उत्पन्न की है। इस दृष्टि से गम्भीर विचार करने पर पता चलता कि विज्ञान की बदौलत सुख की अपेक्षा दुःख की ही अधिक वृद्धि हुई है। विज्ञान का जब इतना विकास नहीं हुआ था, तब राष्ट्र सुखी था या दुखी? विज्ञान ने मानवसमाज का रक्षण किया है या भक्षण? शान्ति प्रदान की है या अशान्ति? ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान ने सुख-साधन प्रदान किये हैं। मगर विचारणीय तो यह है कि इन सुख-साधनों ने राष्ट्र को सुख पहुँचाया भी है या नहीं? यही नहीं, बल्कि सुख के बदले दुःख तो नहीं पहुँचाया? सावधानी से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि विज्ञान ने राष्ट्र को दुःख, दारिद्रय और घोर अशान्ति की ही भेंट दी है।

विज्ञान की संहारक शक्ति के कारण कोई भी राष्ट्र आज सुखी, शान्त या निर्भय नहीं है। सारा संसार आज भयग्रस्त और अशान्त है। ऐसी स्थिति में, विज्ञान का साक्षात फल देखते हुए भी विज्ञान को सुखदायक किस प्रकार कहा जा सकता है? पहले जब कभी युद्ध होता था तो योद्धागण ही तलवारों से आपस में लड़ते थे। लड़ने के उद्देश्य से जो सामने आता, उसी पर तलवार का

इस प्रकार आज विज्ञान का दुरुपयोग किया जा रहा है। अगर विज्ञान का सदुपयोग किया जाय तो वह धर्म और संस्कृति की रक्षा करने में अच्छा सहायक बन सकता है। प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग भी होता है और दुरुपयोग भी होता है, यह एक सामान्य नियम है। किन्तु प्रायः देखा जाता है कि सदुपयोग बहुत कम मात्रा में होता है और दुरुपयोग अधिक मात्रा में। यही कारण है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण वस्तु से विकास की अपेक्षा विनाश ही अधिक होता है। विज्ञान का अगर सदुपयोग किया जाय तो उससे मानव समाज का बहुत कुछ कल्याण-साधन किया जा सकता है।* आज तो विज्ञान धर्म और संस्कृति के ह्रास का ही कारण बना हुआ है।

संसार में धर्म न होता तो दुनिया में कितना भयंकर हत्याकांड मच रहा होता, यह कल्पना भी दुःखदायक प्रतीत होती है। मानव

*सम्पूर्ण व्याख्यान को पढ़ने से प्रतीत होगा कि आचार्य श्री का आशय यह है कि—विज्ञान का सदुपयोग होना उसी समय संभव है, जब धर्मभावना की प्रधानता हो और धर्म ही विज्ञान का पथ-प्रदर्शन करता हो। आज के वैज्ञानिक इस तथ्य को भूले हुए हैं। उन्होंने धर्म को नाचीज मानकर विज्ञान को ही सृष्टि का एक-मात्र सम्राट् बनाने की चेष्टा की है। इसी कारण विज्ञान, विनाश का सहचर बन गया है। जब धर्म को नेतृत्व मिलेगा और विज्ञान उसका अनुचर बनेगा, तभी वह विश्वकल्याण का साधन बन सकेगा। धर्म जहाँ नेता होगा, वहाँ विज्ञान के द्वारा किसी का विनाश होना संभव नहीं, अन्याय और अत्याचार को अवकाश नहीं। धर्म के अभाव में विज्ञान मनुष्यसमाज के लिए विष ही बना रहेगा। धर्म का अनुचर बनकर वह अमृत बन सकता है।
—संपादक

संस्कृति के होने वाले इस विनाश को केवल धर्म ही रोक सकता है। धर्म के अमोघ अस्त्र द्वारा-अहिंसा द्वारा ही यह हिंसाकाण्ड अटकाया जा सकता है। धर्म के अतिरिक्त एक भी ऐसा साधन दिखाई नहीं देता जो मानव-संस्कृति का सत्यानाश करने के लिए पूरे जोरों के साथ चढ़े चले आने वाले विष के वेग को रोक सकता हो। जो धर्म आज दुःखरूप और जीवन के लिए अनावश्यक माना जाता है, वही धर्म वास्तव में सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक है। साथ ही, जो विज्ञान आज सुखरूप और जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है वही विज्ञान वास्तव में दुःखरूप और जीवन के लिए अनावश्यक है। यह सत्य आज नहीं तो निकट भविष्य में सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा। आज समझाने से भले ही समझ में न आवे, मगर समय आप ही समझा देगा।

धर्म और विज्ञान पर विवेक दृष्टि के साथ विचार किया जाय तो धर्म की महत्ता समझ में आये बिना नहीं रहेगी। जो लोग निष्पक्ष दृष्टि से देख सकते हैं और विज्ञान के कटुक फलों का विचार कर सकते हैं, उन्हें 'धम्मो मंगल' अर्थात् धर्म मंगलकारी है, यह सत्य समझते देर नहीं लग सकती।

प्राचीन काल में वायुयान, टेलीफोन, रेडियो या तार आदि वैज्ञानिक साधन नहीं थे। फिर भी प्राचीन काल के लोग अधिक सुखी थे या वैज्ञानिक साधनों वाले इस समय के लोग सुखी हैं? उस समय अधिक शान्ति थी या इस समय अधिक शान्ति है? वैज्ञानिक साधन न होने पर भी प्राचीन काल का मनुष्य—समाज अधिक सुख और शान्ति [illegible] यह किसके प्रताप से [illegible]

एकमात्र कारण लोगों की मोहावस्था ही है। विज्ञान की उन्नति को देखकर ज्ञानी जन प्रसन्न ही होते हैं। वह सोचते हैं कि पहले अधिकारपूर्वक नहीं बतलाया जा सकता था कि विज्ञान शान्ति का संहारक है। कदाचित् बतलाया जाता तो लोगों को इस कथन पर प्रतीति न होती। मगर आज हमें प्रमाणपूर्वक कहने का कारण मिला है कि आजकल विज्ञान का इतना विकास होने पर भी और वैज्ञानिक साधनों की प्रचुरता होने पर क्या मानव जीवन का अस्तित्व और सुखशान्ति सुरक्षित है? इस प्रकार आज हम धर्म का महत्व प्रमाणित करने में समर्थ हो सके हैं और प्रमाण-पुरःसर कह सकते हैं कि 'धर्म ही सच्चा मंगल है।' धर्म ही अशरण का शरण है। धर्म में ही मानव-समाज की सुखशान्ति सुरक्षित है।

कहने का आशय यह है कि धर्म का फल, विषयसुखों के प्रति अरुचि उत्पन्न होना है और जब विषयसुखों के प्रति अरुचि उत्पन्न हो, समझना चाहिए कि हमारे अन्तःकरण में धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई है।

कहा जा सकता है कि-हम तो यही सुनते आये हैं कि धर्म से स्वर्ग, इन्द्रपद, चक्रवर्ती का वैभव आदि सुख सामग्री प्राप्त होती है। मगर शास्त्र बतलाता है कि धर्म से विषयसुख के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है। यह तो हमें नई बात मालूम होती है।' ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि किसान गेहूँ बोकर सोना-चाँदी पाने की इच्छा नहीं करता फिर भी गेहूँ के विक्रय में उसे क्या सोना-चाँदी नहीं मिल सकता? जुलाहा कपड़े की बुनाई करके [illegible] पैसा नहीं पाना चाहता फिर भी कपड़ा बेचकर वह [illegible] पैसा प्राप्त कर सकता है। [illegible] के आकांक्षा [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] 'काम' वस्तु में?

प्रत्येक कार्य का फल दो प्रकार का होता है—एक साक्षात् फल और दूसरा परम्परा फल। शास्त्र में दो प्रकार के फलों की जो कल्पना की गई है, वह निराधार नहीं है। धर्म के विषय में भी इन दोनों प्रकार के फलों की कल्पना भुलाई नहीं जा सकती। धर्म से जो फल मिलने वाला है, वह तो मिलेगा ही; लेकिन तुम धर्म द्वारा ऐसे फल की आकांक्षा न करो कि धन से हमें साता-सुख की प्राप्ति हो। सांसारिक सुखों के प्रति अरुचि ही धर्म के फल-स्वरूप चाहो। इस प्रकार का विचार रखते हुए कदाचित् परम्परा फल-स्वरूप इन्द्रपद भी मिल सकता है, किन्तु इसकी आकांक्षा मत करो। आकांक्षा धर्म का मैल है। इससे धर्मभावना कलुषित हो जाती है और धर्म का प्रधान फल मिलने में रुकावट होती है।

धर्म के प्रति लोगों की अश्रद्धा क्यों उत्पन्न होती है। इसका सामान्यतः कारण यह है कि लोग क्षणिक साता-सुख में फँस जाते हैं, उन सुखों के पीछे रहे हुए विकारों को या दुःखों को वह देखते नहीं और इसी कारण धर्म पर उनकी श्रद्धा नहीं जमती। अतएव सब से पहले यह देखना चाहिए कि धर्म के द्वारा जो सुख-साता चाहे जाते हैं, उनके पीछे सुख रहा हुआ है या दुःख ? सांसारिक सुखों के पीछे क्या छिपा हुआ है, यह जानने से स्पष्ट होता है कि वहाँ एकान्त दुःख ही दुःख है। इस प्रकार दुःख की प्रतीति होने पर फलस्वरूप धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होगी। यह बात [illegible] के लिए [illegible]

[illegible]

श्रद्धा उत्पन्न होगी तब संसार के समस्त पदार्थों पर अरुचि उत्पन्न हो जायगी। साँप को पकड़ने की इच्छा तभी तक हो सकती है, जब तक यह न मालूम हो जाय कि इस साँप में विष है। साँप ऊपर से कोमल दिखाई देता है मगर उसकी दाढ़ में विष भरा होता है। इसी कारण लोग उससे दूर भागते हैं। साँप में विष न होता तो उसकी कोमलता देखकर लोग उसे गले का आभूषण बना लेते। मगर विष होने के कारण कोमल होने पर भी उसे कोई हाथ में लेना नहीं चाहता। इसी तरह जब तक धर्म पर श्रद्धा नहीं होती, तब तक मालूम नहीं होता कि सातासुख में कैसा दुःख छिपा हुआ है। धर्म-श्रद्धा उत्पन्न होते ही साता-सुख में दुःख-रूपी विष का पता चलता है। तब उसके प्रति स्वभावतः अरुचि पैदा हो जाती है। इस तरह जब साता-सुख में रुचि न रहे तब समझना चाहिए कि हम में धर्म-श्रद्धा है। सभी जानते हैं कि शरीर में दुर्गन्ध है और दुर्गन्ध के आधार पर ही शरीर की स्थिति है। फिर भी कोई दुर्गन्ध पसन्द नहीं करता। जब दुर्गन्ध पसन्द नहीं है तो दुर्गन्ध के घर इस शरीर पर क्यों ममत्व रक्खा जाता है? कहावत है—

> पगिया बाँधे पेंच सँवारे, फूले गोरे तन में।
> धन जोबन डूंगर का पानी, ढलक जाय इक छन में।
> मुखड़ा क्या देखे दर्पण में, तेरे दयाधर्म नहीं मन में॥

अर्थात् अपना सुन्दर शरीर देखकर लोग फूल जाते हैं। उसे अधिक सुन्दर बनाने के लिए पगड़ी टोपी सँवार कर पहनते हैं। भाँति-भाँति के सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं और फिर अपने सौन्दर्य की परीक्षा के लिए दर्पण में मुख देखते हैं। मगर ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जिस शरीर को तब इस सजाया जाता है, वह किस क्षण नष्ट हो जायगा, इसका क्या भरोसा है? जैसे पहाड़ पर बरसा हुआ

माणमाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसंजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ।

धर्म कुछ आजकल की नई चीज नहीं, अनादिकालीन है। मगर इस धर्म का भान आपको अब तक क्यों नहीं हुआ ? इसका कारण यही है कि आपको धर्म पर श्रद्धा नहीं है। धर्म पर श्रद्धा होती तो धर्म का भान हुए विना न रहता। संसार में अनेक पुस्तकें हैं, लेकिन उनका ज्ञान आपको क्यों नहीं है ? कारण यही है कि आपने उनका अध्ययन नहीं किया। पुस्तकों की मौजूदगी से ही कोई विद्वान नहीं हो जाता। क्षयोपशम के अनुसार पुस्तकों का अध्ययन करना और अध्ययन को जीवन में उतारना ही पुस्तकों के ज्ञान की सार्थकता है। इसी प्रकार धर्म अनादिकालीन है और आप भी अनादिकालीन हैं, मगर धर्म पर श्रद्धा न होने के कारण धर्मोपदेश का श्रवण भी जीवन-साधक नहीं हो सकता। धर्म पर श्रद्धा रखते हुए धर्मोपदेश को जीवन में उतारने से अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। धर्म पर श्रद्धा होने पर ही धर्म अपनाया जा सकता है। धर्मश्रद्धा के अभाव में धर्म टिक नहीं सकता। धर्मश्रद्धा धर्म की नींव है। इसलिए सर्वप्रथम धर्म पर दृढ़ श्रद्धा होना आवश्यक है।

धर्मश्रद्धा का फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—धर्मश्रद्धा का फल सातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले सुखों के प्रति अरुचि होना है।

सांसारिक लोग सांसारिक पदार्थों के प्रति तीव्र ममत्वभाव रखते हैं। सांसारिक पदार्थ तो आत्मा को अपना नहीं मानते, मगर आत्मा उन पदार्थों को अपना मानता है। इसी भूल के कारण आत्मा अब तक भान नहीं पा सका है। उदाहरणार्थ—अपनी

वस्तुएँ मौजूद हैं। मगर भूल तो तब होती है जब मनुष्य स्थूल वस्तुओं पर ललचा जाता है और सूक्ष्म वस्तुओं को भुला देता है। परन्तु वास्तव में स्थूल वस्तु, सूक्ष्म के सहारे ही रही हुई है और सूक्ष्म वस्तु के बिना तनिक भी काम नहीं चल सकता।

कल्पना कीजिए, स्थूल शरीर में से सूक्ष्म प्राण निकल जाय तो स्थूल शरीर किस काम का रहेगा? किसी मृत स्त्री का शव वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर दिया जाय तो भी क्या किसी पुरुष को वह आकर्षित कर सकेगा? स्त्री का स्थूल शरीर तो जैसा का तैसा सामने पड़ा है। सिर्फ सूक्ष्म प्राण उसमें से निकल गये हैं। इस कारण उसे कोई स्पर्श भी नहीं करना चाहता। इस प्रकार स्थूलता, सूक्ष्मता के आधार पर ही स्थिर है। अतएव सूक्ष्मता की सर्वप्रथम आवश्यकता है। जब तुम सूक्ष्म आत्मा को पहचानोगे तो परमात्मा को भी पहचान सकोगे। आत्मा सूक्ष्म है, फिर भी वही सब में अधिक प्रिय है। दूसरी जो वस्तुएँ प्रिय लगती हैं वह भी आत्मा के लिए ही प्रिय लगती हैं। सूक्ष्म आत्मा न होती तो स्थूल वस्तु किसी को भी प्रिय न लगती। मुर्दे को आभूषण पहना दिये जाएँ तो चाहे पहनाने वाले को आनन्द प्राप्त हो, मगर मुर्दे को किसी प्रकार का आनन्द नहीं हो सकता। मुर्दे को आनन्द क्यों नहीं मिलता? इसलिए कि उसमें से सूक्ष्म आत्मा निकल गया है। स्थूल शरीर तो सामने पड़ा ही है, मगर सूक्ष्म आत्मा नहीं है। यह बात ध्यान में रखकर तुम मुर्दा जैसी स्थूल वस्तु पर क्यों मुग्ध होते हो? तुम जीवित हो तो जीवित वस्तु अपनाओ अर्थात् सूक्ष्म आत्मा को देखो, स्थूल वस्तु पर मुग्ध मत बनो।

यह [illegible] तुम, योग हो मित्र,
[illegible] योग हो मित्र।

रहता है तब तक परमात्मा से मिलने का शौक पैदा नहीं होता और जब तक परमात्मा से मिलने का शौक ही उत्पन्न नहीं होता तब तक परमात्मा से भेंट हो ही कैसे सकती है ? तुम शरीर पर ममत्व रखते हो परन्तु शरीर तुम्हारी आज्ञा के अधीन है ? इस शरीर के पीछे कैसे-कैसे दुःख लगे हुए हैं ? क्या तुम यह दुःख चाहते हो ? नहीं। तो फिर क्यों शरीर पर ममता रखते हो ? शरीर पर ममत्व रखने के कारण ही शारीरिक दुःख उठाने पड़ते हैं। शरीर के पीछे कैसे-कैसे दुःख लगे हैं, इस बात का वर्णन करते हुए कहा गया है—

जम्मदुक्खं जरादुक्खं रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हि संसारो जत्थ किसइ जंतुणो ॥
—उत्तराध्ययन, १९-१६

अर्थात्—जन्म दुःखरूप है, जरा दुःखरूप है, रोग तथा मरण दुःखरूप है। अरे यह संसार ही दुःखरूप है, जहाँ जीव दुःख पाते हैं।

शरीर जन्म, जरा, रोग तथा मृत्यु आदि से घिरा है। शरीर का यह स्वरूप जानते हुए भी इसे अपना मानना कितनी बड़ी भूल है। तुम जिस शरीर पर ममत्व रखते हो, उस शरीर की रक्षा करने में समर्थ हो ? तुम्हारे-हमारे शरीर की तो बात ही क्या है ! जिनके शरीर की रक्षा दो दो हजार देव—करोड़ चक्रवर्तियों की शक्ति [illegible] [illegible] देव होता है—कहते हैं उनका शरीर भी सुरक्षित नहीं रह सका। सनत्कुमार चक्रवर्ती के शरीर में जब रोग उत्पन्न हुए तो क्या देव [illegible] [illegible] सके ? [illegible] सके थे ? [illegible] [illegible] करने में समर्थ [illegible] [illegible] सकता है ? और इस

छित्वा छित्वा दृश्यमशेषं सविकल्पं,
मत्वा श्रेष्ठं भावशमाद्यं गगनाभम्।
त्यक्त्वा देहं यानुप्रविशन्त्यच्युतभक्ताः,
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे॥

इस श्लोक का भावार्थ यही हो सकता है कि परमात्मा से मिलन का सरल मार्ग यह है कि पौद्गलिक पदार्थों को यह कहकर छोड़ते जाओ कि—'यह परमात्मा नहीं है।' तुमने आत्मा को पौद्गलिक इच्छा का जो वस्त्र पहना दिया है, वह वेष उतार कर फेंक दो। तुम पुद्गलों की इच्छा न करो, उलटा ऐसा विचार करो कि पुद्गलों का भोग करना मेरे लिए योग्य नहीं है। क्योंकि पौद्गलिक पदार्थ जड़, नाशवान और जगत् की जूठन के समान हैं। पौद्गलिक पदार्थों का यह स्वरूप समझ में न आने के कारण ही उनके प्रति ममत्व भाव जागृत होता है। लेकिन धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न होने पर यह बात समझ में आ जायगी कि परपदार्थों में रुचि रखना बड़े [illegible] से आत्मविकास में बाधा उत्पन्न करता है। धर्मश्रद्धा उत्पन्न होने से सांसारिक पदार्थों के प्रति अरुचि और विरक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। अतएव धर्मश्रद्धा जागृत करो तो परपदार्थों में राग भी नहीं रहेगा और आत्मविकास साधने में बाधा भी नहीं रहेगी।

कहने का आशय यह है कि धर्म स्थूल नहीं, सूक्ष्म है और इस कारण वह दिखाई नहीं देता। फिर भी प्राण के समान उसकी आवश्यकता है। जब धर्म की आवश्यकता है तो उस पर श्रद्धा [illegible] भी आवश्यक है। धर्मश्रद्धा जागृत [illegible] है। इस विषय में

जिसका मन संसार से विरक्त हो गया हो। जिसका मन सांसारिक पदार्थों में अनुरक्त है वह दीक्षा का पात्र नहीं है, ऐसा समझ लेना चाहिए ?

अनगारधर्म स्वीकार करने के पश्चात् मजा-मौज नहीं लूटी जाती। वरन भगवान् की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। 'एक समय मात्र भी प्रमाद मत करो' ऐसी आज्ञा भगवान् ने साधुओं को दी है। कदाचित् गृहस्थ अपने गृहस्थ होने का बहाना करके भगवान् की आज्ञा से दूर भी हो सकते हो, मगर हम साधु तो उनको आज्ञा पालने के लिए ही उनके सैनिक बने हैं। कितना ही उत्सर्ग क्यों न करना पड़े, हमें तो भगवान की आज्ञा का पालन करना ही चाहिए। जब युद्ध चल रहा हो तो दूसरे लोग भले ही भाग जाएँ, मगर यदि सैनिक ही युद्ध से भाग गये तो उन्हें क्या कहा जायगा ? इसीप्रकार हम साधु तो भगवान की आज्ञा का पालन करने के लिए ही निकले हैं। हमें उनकी आज्ञा शिरोधार्य करनी ही चाहिए।

कहने का आशय यह है कि धर्मश्रद्धा जागृत होने पर सांसारिक पदार्थों पर वैराग्य आ ही जाता है। जिसे वैराग्य आ जाता है वह अनगारधर्म को स्वीकार करता है। और जिसने वैराग्य पूर्वक अनगारधर्म स्वीकार किया है, वही पुरुष अनगारधर्म का भलीभाँति पालन कर सकता है।

श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में पालित श्रावक का वर्णन आता है। उसमें कहा है—पालित श्रावक था और जैनशास्त्रों का ज्ञाता था। वह व्यापार के लिए समुद्रयात्रा भी करता था। एक बार समुद्रयात्रा करता करता वह पिहुंड नामक नगर में आया। वहाँ पालित को चतुर और धार्मिक समझ कर एक गृहस्थ ने अपनी कन्या के साथ विवाह कर दिया।

पश्चात् अपनी उस नवविवाहित पत्नी को लेकर समुद्रमार्ग से पालित अपने घर की ओर रवाना हुआ। पालित की वह पत्नी गर्भवती थी उसने समुद्र के अन्दर जहाज में ही पुत्र का प्रसव किया।

आज के लोग कहते हैं कि आधुनिक जहाजों में ही इस प्रकार की सुविधाएँ होती हैं, मगर पुराने वर्णनों से प्रतीत होता है कि उस समय भी जहाजों में कितनी सुन्दर सुविधाएँ होती थीं प्रसवकाल अत्यन्त कठिन होता है, लेकिन प्राचीन काल के लोग जहाज में भी उस स्थिति को सम्भालने में समर्थ होते थे।

पालित का पुत्र समुद्र में जन्मा, इसलिए उसका नाम समुद्रपाल रक्खा गया। पालित अपनी पत्नी और पुत्र को लेकर घर पहुँचा। पालित ने समुद्रपाल को बहत्तर कलाओं में पंडित बनाया

वही सच्चे माता-पिता हैं जो अपनी सन्तानों को कला शिक्षण द्वारा शिक्षित और सस्कारी बनाते हैं। कहावत है—'काचा सूत जैसा पूत।' अर्थात् बालक कच्चे सूत के समान हैं। जैसा बनाना हो वैसे ही वह बन सकता है। आप वस्त्र पहनते हैं, किन्तु वस्त्र की जगह यदि सूत लपेट लो तो क्या ठीक कहलाएगा? नहीं। इसी प्रकार बालक कच्चे सूत के समान है। जैसा चाहो उन्हें वैसा ही बना लो। अगर आप बालक को जन्म देकर ही रह गये और उन्हें सस्कारी नहीं बनाया तो वे कच्चे सूत की तरह ही निकम्मे रह जाएँगे

[illegible] बालक को बहत्तर कला [illegible] [illegible] शास्त्र [illegible] यह माता पिता [illegible] लेकिन आज [illegible] तरह पालन करते

और फलस्वरूप सांसारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता और जब वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तब संयम स्वीकार करने में भी देर नहीं लगती। सांसारिक पदार्थ मनुष्य को किस प्रकार संसार में फँसाते हैं और दुःख देते हैं, यह बात समझने योग्य है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनगारिता स्वीकार करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है कि अनगारिता स्वीकार करने से शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्ति मिलती है।

शारीरिक और मानसिक दुःखों में संसार के सभी दुःखों का समावेश हो जाता है। शारीरिक दुःखों में छेदन-भेदन ताड़न आदि दुःखों का समावेश होता है। शरीर का बाहर से छेदा जाना छेदन कहलाता है और भीतर से छेदा जाना भेदन कहलाता है। चाबुक मारना, घूँसा मारना आदि ताड़न कहलाता है। इस प्रकार छेदन, भेदन, ताड़न आदि शारीरिक कष्ट हैं।

इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग आदि दुःखों का मानसिक दुःख में समावेश होता है। इष्ट वस्तु के वियोग से और अनिष्ट पदार्थ के संयोग से मन को जो दुःख होता है, वह मानसिक दुःख कहलाता है। मानसिक दुःख आर्त्तध्यान में गिना गया है। आर्त्तध्यान के विषय में [illegible] सूत्र में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यहाँ विस्तृत विचार करने का अवसर नहीं है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आर्त्तध्यान का स्वरूप [illegible] है—

समुद्रपाल का विवाह रूपवती और सुशीला कन्या के साथ किया गया था। एक दिन समुद्रपाल अपने भवन के झरोखे में बैठा था। वहाँ उसने देखा—

> कालो मुख कियो चोर नो, फेरो नगर मँझार,
> समुद्रपाल तिन जोइने, लीनो संजम-भार।
> जीवा चतुर सुजान, भज लो नी भगवान्,
> मुक्ति नो मारग दोयलो, तज दो नी अभिमान।

समुद्रपाल ने झरोखे में बैठे-बैठे देखा कि एक मनुष्य का मुँह काला करके उसे फाँसी पर चढ़ने का पोशाक पहनाया गया है। उसके आगे बाजे बज रहे हैं और बहुतसे लोग उसके साथ चल रहे हैं। फिर भी वह मनुष्य उदास है। यह दृश्य देखकर समुद्रपाल विचारने लगा—यह मनुष्य उदास क्यों है? और इसे इस प्रकार क्यों ले जाया जा रहा है? तलाश करने पर मालूम हुआ कि उसने इन्द्रियों के वश होकर राज्य का अपराध किया है और राजा ने उसे फाँसी पर लटका देने का दंड दिया है। यह जानकर समुद्रपाल फिर विचार करने लगा—'इन्द्रियों के वश होने के कारण यह पुरुष फाँसी पर लटकाया जा रहा है। वास्तव में इन्द्रियों के भोग ऐसे ही हैं। इन्द्रियों के भोग इन सामान्य पदार्थों ने ही मेरे इस भाई को फाँसी पर चढ़ाया है। [illegible] पदार्थों का [illegible] कहीं मेरी भी यही दशा न हो [illegible] [illegible] यही उचित है कि मैं पहले ही इन्द्रियभोग [illegible] त्याग कर [illegible]

[illegible] समुद्रपाल [illegible] में [illegible] तब उस पर [illegible] [illegible] स्वरूप बताया जाता है

और फलस्वरूप सांसारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता और जब वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तब संयम स्वीकार करने में भी देर नहीं लगती। सांसारिक पदार्थ मनुष्य को किस प्रकार संसार में फँसाते हैं और दुःख देते हैं, यह बात समझने योग्य है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनगारिता स्वीकार करने से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा है कि अनगारिता स्वीकार करने से शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्ति मिलती है।

शारीरिक और मानसिक दुःखों में संसार के सभी दुःखों का समावेश हो जाता है। शारीरिक दुःखों में छेदन-भेदन ताड़न आदि दुःखों का समावेश होता है। शरीर का बाहर से छेदा जाना छेदन कहलाता है और भीतर से छेदा जाना भेदन कहलाता है। चाबुक मारना, घूँसा मारना आदि ताड़न कहलाता है। इस प्रकार छेदन, भेदन, ताड़न आदि शारीरिक कष्ट हैं।

इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग आदि दुःखों का मानसिक दुःख में समावेश होता है। इष्ट वस्तु के वियोग से और अनिष्ट पदार्थ के संयोग से मन को जो दुःख होता है, वह मानसिक दुःख कहलाता है। मानसिक दुःख आर्त्तध्यान में गिना गया है। आर्त्तध्यान के विषय में श्री उववाई सूत्र में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यहाँ विस्तृत विचार करने का समय नहीं है। अतः संक्षेप में इतना ही कहना है कि मानसिक दुःख अर्थात् आर्त्तध्यान दूर करके परमात्मा की प्रार्थना करने से [illegible] है। आर्त्तध्यान का स्वरूप बतलाया [illegible] है—

समुद्रपाल का विवाह रूपवती और सुशीला कन्या के साथ किया गया था। एक दिन समुद्रपाल अपने भवन के झरोखे में बैठा था। वहाँ उसने देखा—

> कालो मुख कियो चोर नो, फेरो नगर मँझार,
> समुद्रपाल तिन जोइने, लीनो संजम भार।
> जीवा चतुर सुजान, भज लो नी भगवान,
> मुक्ति नो मारग दोयलो, तज दो नी अभिमान।

समुद्रपाल ने झरोखे में बैठे-बैठे देखा कि एक मनुष्य का मुँह काला करके उसे फाँसी पर चढ़ने का पोशाक पहनाया गया है। उसके आगे बाजे बज रहे हैं और बहुतसे लोग उसके साथ चल रहे हैं। फिर भी वह मनुष्य उदास है। यह दृश्य देखकर समुद्रपाल विचारने लगा—यह मनुष्य उदास क्यों है? और इसे इस प्रकार क्यों ले जाया जा रहा है? तलाश करने पर मालूम हुआ कि उसने इन्द्रियों के वश होकर राज्य का अपराध किया है और राजा ने उसे फाँसी पर लटका देने का दंड दिया है। यह जानकर समुद्रपाल फिर विचार करने लगा—'इन्द्रियों के वश होने के कारण यह पुरुष फाँसी पर लटकाया जा रहा है। वास्तव में इन्द्रियों के भोग ऐसे ही हैं! इन्द्रियों के भोग इन सांसारिक पदार्थों ने ही मेरे इस भाई को फाँसी पर चढ़ाया है। इन पदार्थों का चलाचल कहीं मेरी भी यही दशा न हो जाय! अतएव मेरे लिए यही उचित है कि मैं पहले ही इन्द्रियभोग के सांसारिक पदार्थ [illegible] त्याग कर दूँ।"

इस प्रकार विचार करते करते समुद्रपाल [illegible] के रंग में [illegible] गया। [illegible] जब उस पर ऐसा [illegible] है तब [illegible] आता है

इष्टवियोग विकलता भारी, अरु अनिष्ट योग दुःखारी।
तन की व्याधी मन ही झूरे, अग्रशोच करि चिंतित पूरे।
ये आर्त्तध्यान के चारों पाये, महा मोहरस से लिपटाये॥

अर्थात्—इष्ट वस्तु का वियोग होने से तथा अनिष्ट वस्तु का संयोग होने से महान मनस्ताप अर्थात् मानसिक दुःख उत्पन्न होता है। शारीरिक व्याधि के कारण भी मन जलता रहता है और भविष्य में कौन जाने क्या होगा, अतएव अमुक वस्तु मिल जाय तो अच्छा है, इस भविष्य सम्बन्धी विचार से भी मानसिक दुःख होता है। इन चार प्रकारों से होने वाला मनस्ताप आर्त्तध्यान कहलाता है। धर्मध्यान करने के लिए आर्त्तध्यान से दूर रहना आवश्यक है।

शास्त्र में कहा है कि अनगारिता स्वीकार करने से छेदन-भेदन-ताड़न रूप शारीरिक दुःख तथा इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग आदि मानसिक दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्ति पाने के लिए ही अनगारिता स्वीकार की जाती है। अतएव साधुओं और साध्वियों से मुझे यही कहना है कि इसे खूब गम्भीर विचार करना चाहिए कि हमने किस उद्देश्य से गृह त्याग किया है और शिरोमुंडन कराया है? अगर हमने शारीरिक और मानसिक दुःखों से बचने के लिए ही गृहत्याग किया हो [illegible] सब से पहले हम यह बात [illegible] दुःख क्या है [illegible] दुःख का वास्तविक [illegible] में कहा गया है।

जम्मदुक्खं जरादुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तुणो॥

उत्त० १९-

अर्थात्—जन्म दुःखरूप है, जरा दुःखरूप है, जन्म और जरा के बीच होने वाले रोग आदि भी दुःखरूप हैं और मरण का दुःख तो सब से बड़ा है। इस प्रकार इस संसार में दुःख ही दुःख है। ज्ञानी जन कहते हैं कि संसार को असार और दुःखमय समझकर जो इसका त्याग करते हैं वे अनगारिता स्वीकार कर दुःखमुक्त बन जाते हैं।

यहाँ एक नया प्रश्न उपस्थित होता है। अनगारिता स्वीकार करने के पश्चात् अनगार ऐसा क्या करता है जिससे वह दुःखमुक्त हो जाता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए यह देखने की आवश्यकता है कि दुःख आता कहाँ से है? कुछ लोग दुःख का ठीक कारण न खोज सकने के कारण कहते हैं—'दुःख परमात्मा देता है, अदृष्ट से दुःख होता है या काल दुःख पहुँचाता है।' ऐसा कहने वाले लोगों को दुःख का और कोई कारण मालूम नहीं हुआ, इस कारण उन्होंने ईश्वर, अदृष्ट या काल पर दुःख देने का दोषारोपण कर दिया है। मगर ज्ञानी जनों का कहना यह है कि आत्मा ने स्वयं ही दुःख पैदा कर लिया है। यह ठीक है कि आत्मा अमृत के समान है, दुःखमय नहीं किन्तु सुखमय है, फिर भी उसने अपने आपको दुःख में डुबो लिया है। आत्मा स्वभावतः दुःखमय होता तो उसे सुखी बनाने का उपदेश ही न दिया जाता। अगर दिया जाता तो वह निष्फल होता क्योंकि जो स्वभावतः दुःख से घिरा हुआ है उसे दुःखमुक्त कैसे किया जा सकता है? जिसका मूल पहले से ही खराब है उसका सुधार किस प्रकार हो सकता है? अतएव आत्मा अगर सदा दुःखमय होता तो दुःखमुक्त होने का उपदेश निरर्थक हो जाता। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। आत्मा स्वभावतः सुख-सागर है, इसीलिए दुःखमुक्त होने का उपदेश दिया जाता है। जब

रते ही हैं। नदी के किनारे पक्षी भी रहते हैं। इस आशा-नदी के किनारे कपट-वितर्क रूपी बगुला-पक्षी रहते हैं। आशा-तृष्णा के कारण ही झूठ-कपट सेवन करना पड़ता है। नदी में जब पूर आता है तो वह किनारों के पेड़ों को भी उखाड़ फैंकता है। इसी प्रकार तृष्णा की अधिकता से धैर्य रूपी वृक्ष भी उखड़ जाता है। कितने ही लोग कहते हैं कि सामायिक में हमारा मन नहीं लगता, मगर जब तृष्णा बढ़ी हुई हो तब मन सामायिक में कैसे लग सकता है? तृष्णा धैर्य का नाश कर डालती है। और धैर्य के अभाव में मन का एकाग्र न होना स्वाभाविक ही है। तृष्णा का उच्छेद किये विना शान्ति नहीं मिलती। जैसे गहरी नदी में भँवर पड़ते हैं, उसी प्रकार आशा-नदी में भी मोह के भँवर पड़ते हैं। मोह के भँवर-जाल में फँसा हुआ मनुष्य सरलता से बाहर नहीं निकल सकता। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो संसार की असारता समझ गये हैं और संसार का त्याग करने की इच्छा भी रखते हैं, फिर भी मोह के कारण संसार का त्याग नहीं कर सकते। जब तक मनुष्य मोहावस्था में फँसा रहता है तब तक आत्मोन्नति नहीं साध सकता। जैसे नदी में तट होता है, उसी प्रकार आशा-नदी का तट चिन्ता है। जहाँ आशा-तृष्णा होती है वहाँ चिन्ता का होना स्वाभाविक ही है।

ऐसी दुस्तर महानदी को कौन पार कर सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कवि ने कहा है—विशुद्ध भावना रूपी नौका में बैठने वाले, इस नौका की सहायता से दुस्तर आशा-नदी को पार कर लेते हैं। इस आशा-नदी को पार करने के लिए ही अनगार-धर्म स्वीकार किया जाता है। अनगारता स्वीकार कर विशुद्ध भावना भाने वाले अनगार आशा रूप नदी को पार करते हैं और इस प्रकार शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से निवृत्त होकर अनन्त आनन्द प्राप्त करते हैं।

माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥

अर्थात्—हे प्रभो ! मेरे हृदय में प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री-भाव रहे, गुणी जनों के प्रति प्रमोदभाव रहे, दुःखी जीवों के प्रति मेरे हृदय में करुणाभाव रहे और विपरीत वृत्ति वालों के प्रति मेरे हृदय में समभाव रहे।

इस प्रकार परमात्मा के प्रति प्रार्थना करना और तदनुसार जीवन-व्यवहार चलाना चित्तशुद्धि का मार्ग है। तृष्णा से निवृत्त होने के लिए भावना की शुद्धि होना आवश्यक है। योग के लिए भी योगशास्त्र में यही कहा गया है कि भावना शुद्ध हुए बिना योग की सिद्धि नहीं होती।

आप सब लोग चित्तशुद्धि करने के लिए ही यहाँ एकत्र हुए हैं मगर देखना चाहिए कि चित्त की शुद्धि किस प्रकार होती है। चित्त शुद्ध करने के लिए अथवा भावना को विशुद्ध बनाने के [illegible]

[illegible]

जब किसी सुखी मनुष्य को देखो तो यह सोचकर ईर्षा मत करो कि इसे सुख क्यों मिला ? यह सुख मुझे क्यों नहीं मिला ? जहाँ ईर्षा या द्वेष होता है वहाँ मैत्रीभावना नहीं टिक सकती। जब किसी मनुष्य को कामभोग के साधन प्राप्त नहीं होते और दूसरों को वह प्राप्त होते हैं, तब उसे दूसरे के प्रति ईर्षा-द्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार मनुष्य दूसरे को सुखी देखकर आप दुःखी बन जाता है। इसी कारण ज्ञानी जन कहते हैं कि सुखी जनों को देखकर अपने चित्त में मैत्रीभाव लाओ।

प्रश्न किया जाता है कि संसार में सभी तो सुखी हो नहीं सकते, कुछ लोग हमारी अपेक्षा भी अधिक दुःखी हैं। ऐसे दुखियों के प्रति हमें कैसा व्यवहार रखना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार सुखी जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना बतलाया गया है, उसी प्रकार दुखियों के प्रति करुणाभावना रखनी चाहिए। दुखी जीव अपने कर्मों के कारण दुःख भोग रहे हैं, इस प्रकार विचार करके उनके प्रति उपेक्षा रखना उचित नहीं है। करुणा दुखी जीवों पर ही की जाती है, अतएव किसी दुखी को देखकर यह मानना चाहिए कि मुझे करुणाभाव प्रकट करने का शुभ अवसर मिला है। आप लोग इस मानवजीवन में रहकर दूसरों की जो भलाई कर सकते हैं, परोपकार कर सकते हैं और साथ ही आत्मकल्याण की जो साधना कर सकते हैं वह स्वर्ग में रहने वाले इन्द्र के लिए भी शक्य नहीं है। इस [illegible] कहा है कि मानवजीवन मूल्यवान है या देवजीवन ? [illegible] स्वर्ग में चला जाय तो वह वहाँ जाकर किसकी दया करेगा ? [illegible] दया करने का अवसर तो यहीं प्राप्त होता है, वहाँ नहीं। अतएव [illegible] को देखकर उनके प्रति मन में करुणाभावना [illegible]। आप किसी से सम्य-

भूएसु' अर्थात् सब जीवों के साथ मेरा मैत्रीभाव है, इस प्रकार का पाठ तो प्रायः प्रतिदिन उच्चारण करते होगे, मगर कभी यह भी देखते हो कि इसका पालन कहाँ तक किया है ? जिसे आप अपना मित्र समझते हैं, क्या उसे दुःख में ही रहने देना चाहिए ? जो सच्चे हृदय से किसी को मित्र अपने को मानता होगा वह अपने मित्र को दुःख में रखकर स्वयं सुखी नहीं बनना चाहेगा। इसलिए यदि आप सब जीवों को मित्र समान समझते हैं तो दुखी जन को देखकर उसके प्रति अन्तःकरण में करुणाभावना धारण करो और उसका दुःख अपना ही मानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करो।

कदाचित् यह कहा जाय कि दुनिया दुखियों से भरी पड़ी है, ऐसी स्थिति में किस-किस का दुःख दूर किया जाय ? ऐसा कहने वाले से यही कहा जा सकता है कि तुम जितने दुखियों का दुःख दूर कर सको, करो, मगर करुणाभावना तो सभी पर रक्खो। करुणाभावना रखने से अपनी ओर से तो तुमने उसका दुःख दूर किया ही है। तुम्हारे हृदय में करुणा होगी तो कम से कम तुम किसी को कष्ट तो न पहुँचाओगे। करुणाभाव धारण करने वाला पुरुष, जिस पर करुणाभाव धारण करेगा, उसे दुःख तो नहीं पहुँचाएगा। वह उसके साथ असभ्य का व्यवहार नहीं करेगा, उसकी चीज नहीं चुराएगा, उसकी स्त्री को बुरी दृष्टि से नहीं देखेगा, उसके धन-वैभव पर ईर्षा नहीं रक्खेगा। तुम्हारे दिल में दया होगी तो दूसरे का दुःख दूर करने का ही उपाय करोगे। डाक्टर सर्वप्रथम उसी रोगी की जाँच करता है जो ज्यादा बीमार होता है। इसी प्रकार तुम उस पर करुणा करो जो सब से दुःखी हो। करुणा करने पर भी दुःखी का दुःख मिटे या न मिटे पर तुम्हारा दुःख तो मिटेगा ही। जो बहुत से रोगियों का रोग मिटाता है वह

बड़ा डाक्टर माना जाता है। इसी प्रकार जो बहुतसे दुखियों का दुःख मिटाता है वह बड़ा दयालु कहलाता है और जो बड़ा दयालु होता है वह दूसरों पर अधिक करुणा करके अपने हृदय का अधिक दुःख मिटाता है।

किसी भी दुखी प्राणी की घृणा करना उचित नहीं। जिसके हृदय में करुणा भावना होती है वह किसी से घृणा नहीं करता। आजकल करुणाभावना की कमी के कारण दुखी जीवों के प्रति घृणा की जाती है, ऐसा देखा जाता है। आज शहरों में बसने वाले लोग यह सोचते हैं कि शहर में तो दुखी लोग बहुत हैं, किस-किस का दुःख दूर किया जाय? गाँव में तो कोई-कोई दुखी होता है। वहाँ किसी का दुख दूर किया जा सकता है। मगर शहर में किस-किस का दुख दूर किया जाय! इस प्रकार का विचार करना नागरिक जीवन का दुरुपयोग करने के समान है। नागरिक जीवन का सदुपयोग तो तभी कहा जा सकता है जब दुखी को देखकर, उसके प्रति करुणा भाव लाया जाय और उसका दुख दूर करने का प्रयत्न किया जाय।

. गुणी जनों को देखकर हृदय में प्रमोदभावना लाना चाहिए प्रसन्नता अनुभव करना चाहिए। तनिक भी ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि यह मनुष्य इतना सद्गुणी क्यों है? इसे इतना यश क्यों मिल रहा है? लोगों में इसका इतना सन्मान क्यों हो रहा है? गुणी जनों के प्रति सद्भाव न प्रकट करना अपने लिए दुःख उत्पन्न करने के समान है। बहुत-से लोग गुणी जनों के छिद्र ढूँढते रहते हैं इतना ही नहीं, कितनेक छिद्रान्वेषी तो ऐसे होते हैं कि गुण को भी दोष का रूप देने में नहीं हिचकते। यहाँ साम्प्रदायिक भेदभाव के

ऐसे विकट समय में भी उन्होंने अपनी अन्तरात्मा में अशुभ भावना नहीं उत्पन्न होने दी। असह्य कष्ट के अवसर पर भी उन्होंने ऐसी शुभ भावना धारण की कि सोमल तो मेरे संयम की परीक्षा कर रहा है अर्थात् संयम धारण करके मैं शारीरिक और मानसिक दुख से मुक्त हुआ हूँ या नहीं, इस बात की जाँच कर रहा है। इस प्रकार विचार कर गजसुकुमार मुनि ने मस्तक पर धधकते अंगार रखने वाले सोमल ब्राह्मण पर भी मध्यस्थभाव धारण किया। ऐसी मध्यस्थभावना से तृष्णा का नाश होता है और दुःख के मूल कारण—तृष्णा का नाश होने से दुःख का भी नाश हो जाता है। अगर आप दुःख का नाश करना चाहते हैं और अव्याबाध सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो भावना द्वारा तृष्णा का निरोध कीजिए। तृष्णा का निरोध करने में ही कल्याण है।

ऐसे विकट समय में भी उन्होंने अपनी अन्तरात्मा में अशुभ भावना नहीं उत्पन्न होने दी। असह्य कष्ट के अवसर पर भी उन्होंने ऐसी शुभ भावना धारण की कि सोमल तो मेरे संयम की परीक्षा कर रहा है अर्थात् संयम धारण करके मैं शारीरिक और मानसिक दुःख से मुक्त हुआ हूँ या नहीं, इस बात की जाँच कर रहा है। इस प्रकार विचार कर गजसुकुमार मुनि ने मस्तक पर धधकते अंगार रखने वाले सोमल ब्राह्मण पर भी मध्यस्थभाव धारण किया। ऐसी मध्यस्थभावना से तृष्णा का नाश होता है और दुःख के मूल कारण—तृष्णा का नाश होने से दुःख का भी नाश हो जाता है। अगर आप दुःख का नाश करना चाहते हैं और अव्याबाध सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो भावना द्वारा तृष्णा का निरोध कीजिए। तृष्णा का निरोध करने में ही कल्याण है।

सकता। इस प्रकार अज्ञान का अर्थ यहाँ कुत्सित ज्ञान या मिथ्याज्ञान है और वह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, अतएव क्षायोपशमिकभाव के अन्तर्गत है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान जब मिथ्यात्व से युक्त होता है तो वह अज्ञान बन जाता है। इस विपरीत ज्ञान को विपर्यय ज्ञान भी कहते हैं।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार अन्धकार दूर करने के लिए दीपक की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार अज्ञान दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। जो अज्ञान-अन्धकार हटाकर सच्चे ज्ञान का प्रकाश देता है वह गुरु है। गुरु कौन हो सकता है? इस सम्बन्ध में श्री सूयगडागसूत्र में कहा है—'गुरु भले ही आर्य हो या अनार्य हो, सुरूप हो या कुरूप हो, स्थूल शरीर वाला हो या दुबला-पतला हो, परन्तु उसमें अज्ञान-अन्धकार का नाश करने की शक्ति अवश्य होनी चाहिए।' जिसमें ज्ञान का प्रकाश देने की शक्ति हो, समझना चाहिए कि वही गुरु है। दीपक सोने का हो या चाँदी का हो, अगर प्रकाश न दे सके तो किस काम का? इसके विपरीत दीपक मिट्टी का भले ही हो, अगर प्रकाश देता है तो काम का है। इसी प्रकार गुरु शरीर या रूप से कैसा ही क्यों न हो, अगर उसमें अज्ञान को दूर करने की शक्ति है तो वह गुरु बन सकता है अन्यथा नहीं। आजकल गुरु बनाते समय यह बात नहीं देखी जाती। आज सिर्फ ऊपर का रंग-ढङ्ग देखा जाता है मगर वास्तव में अज्ञान का अन्धकार दूर करने वाला ही गुरु होना चाहिए।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि गुरु में प्रकाश देने की योग्यता हो सो तो ठीक है, मगर वह यदि अपने ज्ञान के अनुसार स्वयं बर्ताव न करता हो तो क्या करना चाहिए? हम गुरु में ज्ञान

का प्रकाश लेना है, फिर गुरु चाहे कैसा ही बर्ताव करे। उसके बर्ताव से हमें क्या प्रयोजन है? क्या यह विचारसंगत नहीं है?

इस प्रश्न के उत्तर में जैनशास्त्र कहते हैं—जो पुरुष अपने ज्ञान के अनुसार व्यवहार नहीं करता, उसका ज्ञान भी अज्ञान है। ऐसा अज्ञानी गुरु तुम्हारे भीतर ज्ञान के बदले अज्ञान ही भरेगा।

अहमदनगर में एक नाटक-कम्पनी आई थी। वहाँ के लोग कम्पनी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते थे। कहते थे—आज तक ऐसी कम्पनी कभी नहीं आई। वह कम्पनी नाटक खेलकर लोगों को ऐसा रिझाती कि लोग प्रसन्न हो जाते थे। एक दिन मैं जंगल के लिए जा रहा था। संयोगवश नट भी उधर ही आये हुए थे। वह लोग आपस में जो बातचीत कर रहे थे, वह सुनकर और उनकी छोछी हँसी-दिल्लगी सुनकर मैं चकित रह गया। मैंने सोचा—यह लोग नाटक में राम और हरिश्चन्द्र का पार्ट खेलते हैं, मगर इनके हृदय की भावना कितनी नीच है! क्या इनकी नीच भावना का प्रभाव दर्शकों पर नहीं पड़ता होगा? पड़े बिना कैसे रह सकता है?

इसी प्रकार नाटकीय गुरु का प्रभाव क्या शिष्य पर नहीं पड़ता होगा? जो अपने अन्तःकरण में ज्ञान को स्थान नहीं देता, जो ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता, वह पुरुष शास्त्र के अनुसार गुरुपद का अधिकारी नहीं है। महात्माओं ने ऐसे लोगों की, जो कहते कुछ और तथा करते कुछ और हैं, निन्दा की है। आवश्यक निर्युक्ति में कहा है—

> किं पुच्छसि साहूणं, तवं च नियमं च संजमं च।
> तओ करिस्मामि वंदियं एवं मे पुच्छिओ साहू॥

सकता। इस प्रकार अज्ञान का अर्थ यहाँ कुत्सित ज्ञान या मिथ्या-ज्ञान है और वह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, अतएव क्षायोपशमिकभाव के अन्तर्गत है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान जब मिथ्यात्व से युक्त होता है तो वह अज्ञान बन जाता है। इस विपरीत ज्ञान को विपर्यय ज्ञान भी कहते हैं।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार अन्धकार दूर करने के लिए दीपक की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार अज्ञान दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। जो अज्ञान अन्धकार हटाकर सच्चे ज्ञान का प्रकाश देता है वह गुरु है। गुरु कौन हो सकता है? इस सम्बन्ध में श्री सूयगडांगसूत्र में कहा है—'गुरु भले ही आर्य हो या अनार्य हो, सुरूप हो या कुरूप हो, स्थूल शरीर वाला हो या दुबला-पतला हो, परन्तु उसमें अज्ञान-अन्धकार का नाश करने की शक्ति अवश्य होनी चाहिए।' जिसमें ज्ञान का प्रकाश देने की शक्ति हो, समझना चाहिए कि वही गुरु है। दीपक सोने का हो या चाँदी का हो, अगर प्रकाश न दे सके तो किस काम का! इसके विपरीत दीपक मिट्टी का भले ही हो, अगर प्रकाश देता है तो काम का है। इसी प्रकार गुरु शरीर या रूप से कैसा ही क्यों न हो, अगर उसमें अज्ञान को दूर करने की शक्ति है तो वह गुरु बन सकता है, अन्यथा नहीं। आजकल गुरु बनाते समय यह बात नहीं देखी जाती। आज सिर्फ ऊपर का रंग-ढङ्ग देखा जाता है। मगर वास्तव में अज्ञान का अन्धकार दूर करने वाला ही गुरु होना चाहिए।

यहां यह कहा जा सकता है कि गुरु में प्रकाश देने की योग्यता हो सो तो ठीक है, मगर वह यदि अपने ज्ञान के अनुसार स्वयं बर्ताव न करता हो तो क्या करना चाहिए? हमें गुरु से ज्ञान

स्वयं ज्ञान के अनुसार आचरण न करने वाला गुरुपद का अधिकारी नहीं है। जो दूसरों को तो ज्ञान की बात बतलाता है, किन्तु स्वयं तदनुसार व्यवहार नहीं करता, उसे आडंबरी समझना चाहिए। यह बात दूसरी है कि स्वयं वीतराग न होते हुए भी वीतराग का स्वरूप बतलावे, किन्तु ऐसी स्थिति में उसे स्पष्ट कर देना चाहिए कि मैं अभी वीतराग नहीं हुआ हूँ, मैं सिर्फ वीतराग के मार्ग का पथिक हूँ। इस प्रकार वीतराग-मार्ग का पथिक (मुमुक्षु) होकर वीतराग का मार्ग बतलाना योग्य ही है। परन्तु जो स्वयं उस मार्ग का पथिक नहीं बनता और सिर्फ दूसरों को ही मार्ग बतलाता है, वह आडम्बरी है। आडम्बर करने वाला पुरुष गुरुपद का गौरव नहीं प्राप्त कर सकता।

शास्त्र के अनुसार ज्ञान और चारित्र—दोनों की आवश्यकता है। जिसमें ज्ञान और क्रिया दोनों हैं, वही गुरु बन सकता है। जिसमें ज्ञान होने पर भी क्रिया नहीं है या क्रिया होने पर भी ज्ञान नहीं है, वह गुरु नहीं बन सकता। जिस दीपक में केवल बत्ती होगी या केवल तेल ही होगा, वह प्रकाश नहीं दे सकेगा। प्रकाश देने के [illegible] इसी प्रकार ज्ञान के अभाव में अकेली [illegible] होने से कल्याण नहीं हो [illegible]

[illegible]

कहला सकता। जिसमें अनाज के पौधे अधिक होते हैं, वही अनाज का खेत कहलाता है। यही बात धर्म के विषय में भी समझनी चाहिए। धर्म का पालन करने वाले जब अनेक होते हैं तभी धर्म चल सकता है। अनेक मनुष्य धर्म पालने वाले न हों, सिर्फ एक ही मनुष्य किसी धर्म का पालन करे तो इस अवस्था में धर्म का पालन होना कठिन हो जाता है। कल्पना कीजिए, किसी नगर में सब लोग चोर और लुटेरे बसते हों, कोई नीतिमान मनुष्य न हो तो तुम्हारा जीवनव्यवहार वहाँ ठीक-ठीक चल सकता है? नहीं। वहाँ नीतिमान मनुष्य बसते हों तो ही तुम्हारा जीवनव्यवहार सरलता-पूर्वक चल सकता है। इस प्रकार अपने नैतिक जीवन का व्यवहार सरल बनाने के लिए नीतिमान लोगों की आवश्यकता है। जो मनुष्य प्रामाणिकतापूर्वक लेन-देन करता है, भले ही वह किसी भी जाति का हो, आपको उस पर विश्वास होगा। इसके विरुद्ध जो प्रामाणिक नहीं है, वह आपका भाई ही क्यों न हो, आप उस पर विश्वास नहीं करेंगे। इस प्रकार व्यवहार में भी सहधर्मी की आवश्यकता है।

जैसे व्यवहारधर्म में सहधर्मी की आवश्यकता है, उसी प्रकार लोकोत्तरधर्म में भी सहधर्मी की आवश्यकता रहती है। इस साधुओं को भी सहधर्मी की आवश्यकता है। अगर हमें सहधर्मी की सहायता प्राप्त न हो तो हमारा काम चलना ही कठिन हो जाय। उदाहरणार्थ—हमें श्रावक-श्राविका वगैरह की सहायता मिली है तब हमारा अनुमान यहाँ [illegible] सकता है और हम यहाँ रह सके हैं [illegible]
[illegible]
[illegible]

संयम में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न होती हो तो तुम भाद्रपद महीने में भी उस स्थान से अन्य स्थान पर विहार कर सकते हो।

इस प्रकार हम लोगों के लिए भी साधर्मी की सहायता की आवश्यकता रहती है और उनकी सहायता मिलने पर ही हम निर्विघ्नरूप से अपने धर्म का पालन कर सकते हैं। साधु और श्रावक हमारे सहधर्मी हैं। साधु तो लिंग (वेष) से भी सहधर्मी हैं और धर्म से भी सहधर्मी हैं, किन्तु श्रावक सिर्फ धर्म से सहधर्मी हैं। कहा जा सकता है कि साधु अनगारधर्म का पालन करते हैं और श्रावक आगारधर्म का पालन करते हैं। दोनों का धर्म जुदा-जुदा है। ऐसी स्थिति में साधु और श्रावक सहधर्मी किस प्रकार कहे जा सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि श्रावकों में अणुव्रत होते हैं और साधु महाव्रतों का पालन करते हैं। अणुव्रत और महाव्रत परस्पर संबद्ध हैं अर्थात् अणुव्रत के आधार पर ही महाव्रत हैं और महाव्रत के आधार पर ही अणुव्रत हैं। इस प्रकार एक के साथ दूसरे का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण ही साधु और श्रावक साधर्मी हैं। धर्म के पालन के लिए दोनों की आवश्यकता है। अणुव्रत का पालन न किया जाय तो महाव्रतों का पालन करना ही मुश्किल हो जाय। अगर कोई भी पुरुष अणुव्रती न हो तो हमें महाव्रतों का पालन करने में अतीव कठिनता हो। मान लीजिए कि आप सब लोग अगर मिल के ही वस्त्र पहनते हों तो हमें खादी के वस्त्र कहाँ से मिलें? इस प्रकार हमें महाव्रतों का पालन करने के लिए अणुव्रती श्रावकों की सहायता की आवश्यकता रहती ही है। जैसे नीतिधर्म के होने पर ही लोकोत्तर धर्म का पालन हो सकता है, उसी प्रकार अणुव्रतों का पालन होने पर ही महाव्रतों का भलीभांति पालन किया जा सकता है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र में कहा

है कि सर्वप्रथम लोकोत्तर धर्म का उच्छेद होगा और मत के अन्त में लौकिक धर्म का उच्छेद होगा। इस सूत्र-कथन का आशय यही है कि प्रीतिधर्म का पालन न होने पर लोकोत्तर धर्म का भी पालन नहीं हो सकता।

मैं तुम्हारे ऊपर महाव्रतों के पालन करने का उत्तरदायित्व नहीं लादता। मैं यह भी नहीं कहता कि तुम्हें महाव्रतों का पालन करना ही चाहिए। हाँ, इतना अवश्य कहता हूँ कि आप श्रावक कहलाते हो तो अणुव्रतों का भलीभाँति पालन करो। उनके पालन में किसी तरह की कोताई मत करो। अगर तुम अणुव्रतों का पालन न करो, तुम हिंसक, मिथ्यावादी, चोरी करने वाले और परस्त्रीगामी बन जाओ तो क्या तुम्हारे हाथ से आहार लेना हमारे लिए उचित कहा जा सकता है? लेकिन हम आहार न लें तो जाएँ कहाँ? अतएव विवश होकर हमें आहार लेना पड़ेगा। तथापि वह आहार हमारे उदर में जाकर किस प्रकार की दुर्भावना उत्पन्न करेगा? और अगर तुम अणुव्रतों का पालन करते होओगे तो तुम्हारे हाथ से दिया आहार हमारे उदर में पहुँचकर कितनी सद्भावना उत्पन्न करेगा? तुम्हारे अणुव्रतों के पालन की पवित्रता हमारे महाव्रतों में भी पवित्रता का संचार करेगी। तुम धर्म की दृष्टि से हमारे सहधर्मी हो तो अपने व्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करके, महाव्रतों के पालन में हमें सहकार दो।

सहधर्मी की सहायता के बिना जीवन भी नहीं निभ सकता। जीवन के लिए भी अनेकों की सहायता की आवश्यकता रहती है। वृक्ष-वनस्पति यों तो मनुष्यों से दूर हैं, परन्तु विज्ञान का कथन है कि मनुष्य का जीवन वनस्पति की सहायता के आधार पर ही टिका हुआ है। मनुष्य समाज ऑक्सीजन हवा पर जीवित है। क्षणभर के

शिल्पकला में अनेक कलाओं का समावेश हो जाता है। दर्जी, सुतार, लुहार, सुनार आदि की कलाएँ शिल्पकला में समाविष्ट हैं और इसलिए इस प्रकार की अन्यान्य कलाएँ भी शिल्पकला ही कहलाती हैं।

आज अक्षरज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाता है और पोथियाँ पढ़ाई जाती हैं। किन्तु कोरे अक्षरज्ञान से क्या जीवन स्वतन्त्र-स्वावलम्बी बन सकता है? आज तो उलटा यही दिखाई दे रहा है कि कोरे अक्षरज्ञान के शिक्षण से जीवन परतन्त्र बन रहा है। जीवन की इस परतन्त्रता का प्रधान कारण शिल्पकला की शिक्षा का अभाव है। जीवन को स्वतन्त्र बनाने में शिल्पकला की शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। वस्तुतः सच्ची शिक्षा वही है जो परतन्त्रता के बन्धनों से आत्मा को मुक्त करती है। 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् विद्या वही है जो मुक्ति प्रदान करे। मुक्ति, बन्धनों से ही होती है, अतएव परतन्त्रता के बन्धन तोड़कर बन्धन-मुक्त करने वाली विद्या ही सच्ची विद्या है।

जीवन परतन्त्र न बने, इसलिए शास्त्रकारों ने ७२ कलाओं के शिक्षण का विधान किया है। बहत्तर कलाओं में समस्त कलाओं का समावेश हो जाता है। जिसने बहत्तर कलाओं की शिक्षा ली होगी, वह कभी पराया मुँह नहीं ताकेगा। उसका जीवन परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र होगा। मनुष्य को परतन्त्र बनाने वाली विद्या वास्तव में विद्या ही नहीं है।

आज की कहलाने वाली विद्या प्राप्त करके भले ही थोड़े से वकील या डाक्टर पैदा हो जाएँ, मगर इतने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक शिक्षा परतन्त्रता मिटाने वाली और

स्वतन्त्रता दिलाने वाली है। थोड़े से डाक्टरों और वकीलों को अच्छी कमाई हो जाती है, इस कारण आज की शिक्षा अच्छी और परतन्त्रता दूर करने वाली है, यह कदापि नहीं कहा जा सकता। वास्तव में आधुनिक शिक्षा स्वतन्त्रता दिलाने वाली नहीं है। शिल्पकला का जानकार स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी आजीविका उपार्जन कर सकता है। कोरे अक्षरज्ञान के शिक्षण से स्वतन्त्रभाव से आजीविका नहीं चलाई जा सकती। यह बात तो आज स्पष्ट दिखाई देती है। इसी कारण आज अक्षरज्ञान के साथ शिल्पकला के शिक्षण की आवश्यकता है। आज सर्वत्र इस प्रश्न की चर्चा हो रही है। मानसिक शिक्षा के साथ शारीरिक-औद्योगिक शिक्षा की भी आवश्यकता लगती है। अक्षरज्ञान की शिक्षा के साथ शिल्पकला की शिक्षा दी जाय तो सरलतापूर्वक आजीविका चलाई जा सकती है और जीवनव्यवहार स्वाधीनभाव से निभाया जा सकता है।

अक्षरज्ञान या शिल्पकला की शिक्षा पाने के लिए शिष्यों को गुरु की आज्ञा माननी पड़ती है और उनकी आज्ञा के अनुसार शिक्षा लेने से ही शिष्य शिक्षित बन सकता है। श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि शिष्य लौकिक कला सिखलाने वाले लौकिक गुरु का आज्ञानुसार चलता है और उनकी आज्ञा के अनुसार ही [illegible] [illegible] गुरु की आज्ञा का [illegible]
[illegible]

जब लौकिक गुरु की आज्ञा का भी इस प्रकार पालन किया जाता है तो सूत्र ज्ञान देने वाले लोकोत्तर गुरु की आज्ञा का किस प्रकार पालन करना चाहिए ? यह बात सहज ही समझी जा सकती है। जब लौकिक और लोकोत्तर गुरु की आज्ञा का पालन किया जाता है तभी उनके द्वारा दी हुई शिक्षा फलदायिनी सिद्ध होती है। ऐसा किये बिना शिक्षा सफल नहीं होती।

आज शिक्षक नौकर समझे जाते हैं। शिक्षक भी अपने आपको नौकर ही समझते हैं और जिस किसी उपाय से अपनी नौकरी बनाये रखने का प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भले ही उनके द्वारा किसी विद्यार्थी को लाभ पहुँचे या नहीं। पहले विद्या का विक्रय नहीं होता था, आज विक्रय हो रहा है। इसी कारण विद्यार्थी को पढ़ने में और शिक्षक को पढ़ाने में जैसी चाहिए वैसी रुचि और प्रीति नहीं होती। फलस्वरूप विद्या फलदायिनी नहीं होती, जैसा कि आजकल देखा जा रहा है। विद्या ग्रहण करने में विनय की और विद्या देने में प्रेम की आवश्यकता रहती है। विनय के बिना विद्या ग्रहण नहीं की जा सकती और प्रेम के अभाव में विद्या चढ़ती नहीं है। आज विद्यार्थियों में शिक्षकों के प्रति विनय-भाव नहीं देखा जाता, तब शिक्षकों में भी विद्यार्थियों के प्रति प्रेम का अभाव पाया जाता है। इस कारण विद्योपार्जन और विद्यादान दोनों ही नहीं देखे जाते। जैसे विद्योपार्जन के लिए विद्यार्थियों में विनय की आवश्यकता है, उसी प्रकार विद्यादान देने में शिक्षकों के हृदय में प्रेम की आवश्यकता है। विद्योपार्जन करने के लिए विद्यार्थियों को शिक्षकों का विनय करना चाहिए। जो विद्यार्थी शिक्षक की सेवा या विनयभक्ति नहीं करता वरन् अवज्ञा करता है, वह अपने भाग्य को दुर्भाग्य बनाता है। इसी प्रकार शिक्षकों को भी,

विद्यादान देने के लिए विद्यार्थियों के प्रति प्रेम और वात्सल्य का भाव रखना चाहिए। ऐसा करना ही विद्या की सच्ची उपासना करना है।

जिस प्रकार गुरु की सेवा शुश्रूषा करना आवश्यक है, उसी प्रकार सहधर्मी की सेवा-शुश्रूषा करना भी आवश्यक है। जैसे गुरु उपकारक हैं उसी प्रकार सहधर्मी भी उपकारक है। सहधर्मी के भी दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर। जैसे लौकिक गुरु और सहधर्मी की सेवा करना आवश्यक है, उसी प्रकार लोकोत्तर गुरु और सहधर्मी की सेवा-शुश्रूषा करना भी आवश्यक है। गुरु और सहधर्मी दोनों जीवनसाधना के पथदर्शक होने के कारण उपकारक हैं और इसीलिए उनकी सेवा-शुश्रूषा करना भी आवश्यक है।

गुरु और सहधर्मी की शुश्रूषा करने से किस गुण की प्राप्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान कहते हैं—गुरु और सहधर्मी की सेवा करने से सेवक को विनयगुण की प्राप्ति होती है जिसमें सेवा करने की भावना होती है उसमें विनयगुण होता ही है। इस कथन के अनुसार गुरु और सहधर्मी की सेवा करने वाले में भी विनयगुण आता है। वैसे तो विनय और सेवा एक ही बात है, परन्तु [illegible]

दो मित्र हैं। उनमें एक भीख माँगकर पैसा लाता है और दूसरा मेहनत द्वारा कमाई करके पैसा लाता है। तुम इन दो मित्रों में से किसे अच्छा समझोगे? निस्सन्देह तुम उसी को अच्छा मानोगे जो कमाई करके पैसा लाता है। भीख माँगने वाले को तुम अच्छा नहीं मानोगे। इसी प्रकार जो विनय गुरु और सहधर्मी की सेवा-रूपी मेहनत करके प्राप्त किया जाता है, उसी विनय का महत्व है और ऐसा सेवायुक्त विनय ही लाभकारक सिद्ध होता है।

विनय का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि आठ कर्मों के कारण संसारचक्र में भ्रमण करने वाले आत्मा को मुक्त करने के लिए जो क्रिया की जाती है, वह 'विनय' कहलाती है। यद्यपि विनय भी लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार का है, किन्तु यहाँ लोकोत्तर विनय के साथ सम्बन्ध होने के कारण उसी का वर्णन किया गया है। जो अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना चाहता होगा, उसमें विनय भी होगा ही।

विनयगुण की प्राप्ति होने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय में कहा गया है कि विनयगुण की प्राप्ति से आत्मा में अनासातना का गुण प्रकट होता है। अनासातना क्या है?

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति में जो बाधक हो उसे आसातना कहते हैं। उदाहरणार्थ—जब लक्ष्मी तिलक काढ़ने आवे तब मनुष्य मुँह धोने चला जाय, या लक्ष्मी को लट्ठ मारकर भगा दे—उसे अपने पास न आने दे, इसी प्रकार जो आत्मा में रत्नत्रय को न आने दे, वह आसातना दोष कहलाता है। जब आत्मा में सम्यग्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूपी लक्ष्मी आने को होती है, तब यह आसातना दोष उन्हें रोकता है।

होते हैं। वैज्ञानिकों के कथनानुसार बड़े-बड़े मकान बनवा कर तु घमंड मत करो। बल्कि यह समझो कि ऐसा करके हमने कुदरत माथ लड़ाई ठानी है और कुदरत से मिलने वाला लाभ गँवा दिया है

इसी प्रकार शरीर पर ठास-ठांस कर वस्त्र लादकर भ प्रकृति के साथ वैर बाँधा जाता है और प्रकृति से मिलने वाले लाभ से लोग वंचित होते हैं। इस उष्ण देश में अधिक कपड़ा लादने की आवश्यकता नहीं है। मगर आज शरीर पर तीन से कम कपड़ पहनना फ़ैशन के खिलाफ माना जाता है। लोग यह नहीं समझते कि अधिक कपड़ा पहनना शरीर-स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है अधिक वस्त्र धारण करके शरीर-स्वास्थ्य को हानि पहुँचाना ही क्या फैशन है? यह फ़ैशन नहीं, वरन् शरीर बिगाड़ने के लिए एक प्रकार का 'लेसन' (Lesson) है। फ़ैशन-लेशन का पाठ न पढ़ने में ही कल्याण है।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार घर के द्वार और खिड़कियाँ बन्द कर रखने से घर में हवा-प्रकाश का आना रुक जाता है, उसी प्रकार आसातना दोष रूपी द्वार बन्द कर देने से आत्मा में सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी लक्ष्मी का प्रवेश नहीं होता। आत्मा जब आसातना दोष से रहित होकर विनयशील एवं अनासातनाशील बन जाता है, तभी उसे दर्शन, ज्ञान चारित्र की प्राप्ति होती है।

सोने में रत्न जड़ने के लिए सोने को कुन्दन बनाया जाता है अर्थात् विकार होने के कारण सोने में जो कड़कपन होता है, उसे अग्नि द्वारा दूर करके सोना नरम बनाया जाता है, उसी प्रकार आत्मा में सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नों को जड़ने के लिए आत्मा को विनयशील और अनासातनाशील बनाने की

आवश्यकता है। जब तक सोने का विकार हटाकर उनमें स्वाभाविक नरमाई न आवे, तब तक सोने में रत्न को पकड़ रखने की शक्ति नहीं आ सकती। यद्यपि कोई महापुरुष ही आत्मा में सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्न जड़ता है, परन्तु आत्मा इन रत्नों को तभी पकड़ सकता है जब आत्मा में स्वाभाविक नम्रता आ जाती है। आसातना दोष के कारण आत्मा में एक प्रकार की अकड़ रहती है। वह अकड़ जब तक बनी रहती है तब तक आत्मा रत्नत्रय को नहीं पकड़ सकता। अतएव आत्मा को सब से पहले विनयशील और अनासातनाशील बनाने की आवश्यकता है।

अनासातना गुण प्राप्त होने से आत्मा को क्या लाभ होता है? इस विषय में कहा है कि अनासातना गुण प्राप्त होने से आत्मा नरक, तिर्यंच और मनुष्य की दुर्गतियों में से बच जाता है और सद्गति प्राप्त करता है। शास्त्रकारों ने नरक और तिर्यंचगति दुर्गति बतलाई ही है, मगर मनुष्यगति और देवगति में भी दुर्गति कही है। इस दुर्गति से बचने का उपाय अनासातना गुण ही है। आत्मा प्रत्येक गति में जा चुका है लेकिन उसमें अभी तक नम्रता नहीं आई और इसी कारण वह संसार में भ्रमण कर रहा है। आज भी बहुतेरे लोग लकड़ की तरह अकड़ कर रहते हैं। ऐसे अकड़ वाले लोगों की आत्मा में सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी त्रिरत्न किस तरह जड़े जा सकते हैं? इसलिए जैसे माता [illegible] बालक को [illegible] देती है [illegible] संस्कार [illegible] देते हैं [illegible] [illegible] [illegible] अकड़ कर रहने [illegible] [illegible] अकड़ से [illegible]

करुणा धारण की और इस भव में साधारण से कष्ट सहन न कर सकने के कारण साधुपन छोड़ने को तैयार हो गए। पहले के कष्टों की तुलना में यह कष्ट तो बहुत साधारण है। तिस पर पहले हाथी थे और अब मनुष्य हो। ऐसी स्थिति में विचार करके तो देखो कि तुम्हें कितनी सहिष्णुता रखनी चाहिए।

हे मेघ! हाथी की पर्याय में जीवों पर करुणा रखने और नम्रता धारण करने से इस भव में तुम राजा श्रेणिक के पुत्र और मेरे शिष्य हो सके हो। हाथी के भव में इतनी अधिक सहनशीलता धारण की थी तो क्या इस भव में थोड़ी-सी सहिष्णुता भी नहीं रख सकते? साधुओं की ठोकर लगने से ही साधुपन छोड़ने के लिए तैयार हो गये हो! क्या साधुपन त्याग देने से तुम सुखी बन जाओगे? मेघ! तुम इन सब बातों पर विचार करो और साधुपन त्यागने का विचार त्याग दो।'

भगवान् के वचन सुनकर मेघकुमार प्रभावित हुआ। उसने यहाँ तक निश्चय कर लिया कि संयम-पालन के लिए आवश्यक आँखों के सिवाय मेरा सारा शरीर साधुओं की सेवा के लिए समर्पित है। इस प्रकार की नम्रता धारण करने से मेघकुमार आयुक्षय होने पर विजय नामक विमान में उत्पन्न हुआ। वहाँ से पुनः मनुष्य-जन्म धारण कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

कहने का आशय यह है कि कभी-कभी आत्मा में ऐसी कठोरता आ जाती है, तथापि आत्मा जितनी जल्दी नम्रता धारण करे, उतनी ही जल्दी सुगति प्राप्त करेगा। प्राचीनकाल के पुरुष धर्म-कार्य के लिए कितने नम्र होते थे और धर्मकार्य में कितना रस लेते थे और उसके लिए कितना उत्सर्ग करते थे, इस बात का विचार

बने। आजकल तो किसी युक्ति से धर्मकार्य से बच निकलने में ही बुद्धिमत्ता समझी जाती है! मगर यह सच्ची बुद्धिमत्ता नहीं है। हमारी समझ में सच्ची बुद्धिमत्ता इसमें है—

> सर जावे तो जावे, मेरा सत्यधर्म नहीं जावे।
> सत्य के कारण रामचन्द्रजी, वनफल बिनकर खावे ।।मेरा०।।

यह तो पुराने जमाने की बात है। मध्यकाल में भी ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ सुनी जाती हैं कि सत्यधर्म की रक्षा के लिए प्राणों तक की परवाह नहीं की गई। सत्यधर्म की रक्षा करने के लिए सिक्खगुरु तेगबहादुर ने प्राणों को भी निछावर कर दिया था।

तेगबहादुर की कथा औरंगजेब के जमाने की है। औरंगजेब बड़ा ही धर्मान्ध बादशाह था। वह किसी भी उपाय से लोगों को मुसलमान बनाना चाहता था। एक दिन कुछ लोगों ने उसे मुसलमान बनाने का उपाय बतलाया। वह उपाय यह था कि अगर लोगों के [illegible] मुसलमान बन जाएँ, [illegible] मुसलमान बन [illegible] [illegible] हिन्दू-मुसलमान के [illegible] और कोई बड़ा नहीं है [illegible]

[illegible]

यह है कि किसी संकट के समय प्रजा को सहायता करे; मगर औरंगजेब तो धर्मान्धता के कारण उलटा दुष्काल चूलने का विचार कर रहा है!

औरंगजेब सोचने लगा—अगर दुष्काल पड़ जाय और लोगों को अन्न न मिले तो वे जल्दी मुसलमान हो जायेंगे। लेकिन कुदरत का कोप हुए बिना दुष्काल कैसे पड़ सकता है! ऐसी दशा में मैं अपना विचार अमल में कैसे लाऊँ? विचार करते-करते आखिर वह कहने लगा—मैं बादशाह हूँ। क्या बादशाहत के जोर से मैं अकाल पैदा नहीं कर सकता? इस प्रकार सोचकर बादशाह ने करीब दो लाख सैनिक काश्मीर में भेजे और वहाँ के धान्य से लहराते हुए खेतों पर पहरा बिठला दिया। किसान धान्य काटने आते तो उनसे कहा जाता—मुसलमान बनना मंजूर हो तो धान्य काट सकते हो, वर्ना अपने घर बैठो। इस प्रकार अन्न-कष्ट के कारण कितने ही किसान मुसलमान बन गये। जब बादशाह को यह वृत्तान्त विदित हुआ तो वह अपनी करतूत की सफलता अनुभव करके बहुत प्रसन्न हुआ। साथ ही उसने अन्य प्रान्तों में भी यह उपाय आजमाने का निश्चय किया। दूसरा नम्बर पंजाब का आया।

पंजाब में बादशाह ने यही तरीका अख्तियार किया। लोग त्राहि-त्राहि पुकारने लगे। इस दुष्काल के समय क्या करना चाहिए, यह विचार करने के लिए बहुत से लोग तेगबहादुर के पास आये और कहने लगे—'बादशाह ने सारे प्रान्त में यह जुल्म आरम्भ कर दिया है। अब क्या करना उचित है?' गुरु तेगबहादुर ने कहा—'तुम लोग बादशाह के पास यह सन्देश भेज दो कि हमारा गुरु तेगबहादुर मुसलमान बन जायगा तो हम सब भी मुसलमान हो

जाएँगे। कदाचित् वह मुसलमान न बने तो हम भी नहीं बनेंगे। आप तेगबहादुर को पकड़कर उनसे पहले निबट लीजिए।'

तेगबहादुर की बात सुनकर लोग कहने लगे—यह सन्देश भेजने से तो आपके ऊपर आपदा आ पड़ेगी। मगर बहादुर तेगबहादुर ने कहा—'सिर पर आपत्ति आ पड़े या प्राण चले जाएँ, तो भी परवाह नहीं। कष्ट सहन किये बिना धर्म की रक्षा कैसे हो सकती है?'

अन्ततः लोगों ने उपर्युक्त सन्देश बादशाह के पास भेज दिया। बादशाह ने तेगबहादुर को बुला भेजा। वह जाने को तैयार हुए। उनके शिष्यों ने कहा—'आप हमें यहीं छोड़कर कैसे जा सकते हैं? बादशाह आपके प्राण ले लेगा।' तेगबहादुर ने उत्तर दिया—यह तो मैं भी जानता हूँ। लेकिन, मेरे प्राण देने से औरों की रक्षा होती है, अगर मैं अपने प्राण बचाता हूँ तो दूसरों की रक्षा नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में अपने प्राण देना ही मेरे लिए उचित है। मेरे बलिदान से दूसरों की रक्षा होगी, यही नहीं वरन् धर्मरक्षा के लिए प्राणार्पण करने की भावना भी जनता में जाग उठेगी।'

इस प्रकार अपने शिष्यों को समझा बुझाकर गुरु तेगबहादुर औरंगजेब से मिलने गये। औरंगजेब ने उन्हें मुसलमान बनने के लिए बहुत समझाया और प्रलोभन दिये। मगर तेगबहादुर ने बादशाह को यह उत्तर दिया—'आपको अपना धर्म प्यारा है और मुझे अपना धर्म प्यारा है। धर्मपालन के विषय में किसी प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिए। आप अपना धर्म पालें मैं अपना धर्म पालूँ। अगर आपको अपने धर्म के प्रति इतना आग्रह है तो क्या मुझे अपने धर्म पर दृढ़ नहीं रहना चाहिए?'

बादशाह बोला—'तुम्हारा धर्म झूठा है। अगर उसमें कुछ सचाई है तो दिखलाओ कोई चमत्कार!'

तेगबहादुर ने कहा—'चमत्कार बतलाना जादूगरों का काम है। परमात्मा का सच्चा भक्त चमत्कार दिखलाता नहीं फिरता।'

बादशाह—'चमत्कार नहीं दिखा सकते तो यही क्यों नहीं कहते कि चमत्कार जानते ही नहीं हो।'

तेगबहादुर—'प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में चमत्कार भरा है। उस चमत्कार को देखो।'

बादशाह कहने लगा—'अगर तुम मुसलमान धर्म स्वीकार नहीं करना चाहते तो मृत्यु का आलिंगन करने के अतिरिक्त तुम्हारे लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है।'

तेगबहादुर—'मरने के लिए तो मैं तैयार ही हूँ। धर्म के लिए प्राण देने से अधिक प्रसन्नता की और क्या बात हो सकती है?'

बादशाह ने हुक्म दिया—'तेगबहादुर को बाजार के बीचों-बीच ले जाओ और वहाँ इसका सिर काट डालो।' सिर काटने के पश्चात् तेगबहादुर के गले में एक चिट्ठी पाई गई। उसमें लिखा था—सिर तो दिया, मगर शिखा नहीं दी। अर्थात् प्राणों का उत्सर्ग कर दिया किन्तु हिन्दूधर्म का त्याग नहीं किया।

इस उदाहरण को सामने रखकर आप अपने विषय में विचार कीजिए कि आपने सत्यधर्म की रक्षा के लिए क्या दिया है? पहले के लोग धर्मरक्षा के लिए प्राण भी अर्पण कर देते थे, लेकिन धर्म नहीं जाने देते थे। आप में कोई ऐसा तो नहीं है जो थोड़े से पैसों के लिए भी धर्म का त्याग कर देता हो? जिस मनुष्य में से नीति चली जाती है, उसमें धर्म भी नहीं रहता।

और मनुष्य सम्बन्धी सुगति पाता है। मनुष्यों और देवों में भी दुर्गति और सुगति दोनों प्रकार की गतियाँ होती हैं। पुण्य क्षीण होने से नीचे गिरना दुर्गति में है और अधिकतर आत्मकल्याण साधने का प्रयत्न करना सुगति में है। अर्थात् देवगति या मनुष्यगति पाकर जो आत्मकल्याण साधने का प्रयत्न करता है वह सुगति में है और आत्मा का अकल्याण करने वाला दुर्गति में है। यद्यपि देवभव या मनुष्यभव पाकर भी दुःखी रहना दुर्गति है और सुखी रहना सुगति है, परन्तु अनाशातना द्वारा पौद्गलिक सुखों की आकांक्षा कदापि नहीं करना चाहिए। मनुष्य या देव होकर सुखी बनने का कार्य तो पुण्य से भी हो सकता है। इसीलिए शास्त्रकार यहाँ तक कहते हैं कि पुण्य से मनुष्यभव और देवभव मिल सकते हैं, पर अनाशातना गुण प्रकट होने से सिद्धि रूपी सुगति प्राप्त होती है।

यहाँ मनुष्यगति और देवगति सुगति कही गई है। मेरे ख्याल में, यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया गया है। मनुष्यगति और देवगति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और इस कारण यह दोनों गतियाँ मोक्षप्राप्ति में परम्परा कारण हैं। मोक्षरूप सुगति का कारण होने से इन गतियों को भी सुगति कहा है। यह कारण में कार्य का उपचार है।

बहुतसे देव या मनुष्य देवगति या मनुष्यगति प्राप्त करके भी आत्मिक अकल्याण का कार्य कर बैठते हैं और इसी कारण पुण्य का क्षय होने पर वे पतन को प्राप्त होते हैं—दुर्गति में जाते हैं। इस पतन होने वाले देवों या मनुष्यों के लिए उनकी देवगति या मनुष्यगति भी सु[illegible]ति है

कहने का मूल आशय यह है कि उच्चनीच की कल्पित भावना से ऊपर उठकर जो मनुष्य विनय की आराधना करता है वही आत्मकल्याण साध सकता है। वास्तव में दूसरों का कल्याण करने वाला अपना भी कल्याण करता है। और जो दूसरों का कल्याण नहीं करता वह अपना भी कल्याण नहीं करता। विनयवान् पुरुष दूसरों को भी विनीत बनाता है और इस प्रकार भगवान् के धर्म का प्रचार करता है। विनय के द्वारा भगवान का धर्म फैलाने वाला भगवान् के समान ही आदरणीय बन जाता है। उदाहरणार्थ एक पुरुष किसी डूबते को बचाता है और दूसरा एक डूबती हुई नौका को बचाता है। हालांकि नौका लकड़ी की बनी हुई है, फिर भी नौका की रक्षा करने वाला लकड़ी की नहीं वरन् नौका के आधार पर रहे हुए अनेक मनुष्यों की रक्षा करता है। इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि जो समष्टि की रक्षा करता है, वही बड़ा है।

एक मनुष्य ऐसा है जो सिर्फ अपनी ही सार सँभाल रखता है और दूसरा सम्यग्दृष्टि की भी सार सँभाल करता है और इसके लिए कटुक शब्द भी सुन लेता है। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में से बड़ा वही है जो सम्यग्दृष्टि की सेवा करता है। सम्यग्दृष्टि की रक्षा करते हुए कभी कभी कटुक शब्द सुनने का भी अवसर आ जाता है, परन्तु सच्चा धर्मात्मा पुरुष यही विचार करता है कि [illegible] कटुक भी सहने पड़ते हैं तो [illegible] सहन करके पूर्ण [illegible] [illegible] का प्रयत्न करना चाहिए। अगर मेरे [illegible] नहीं है तो यही समझना चाहिए कि मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म [illegible] हैं और उन्हीं के कारण [illegible] रहा है। [illegible] नहीं होने की इससे तो

मुझे लाभ ही होगा। इस प्रकार विचार कर विनयवान व्यक्ति प्रशस्त विनयधर्म पर स्थिर रहता है।

इस प्रकार विनयमूलक धर्म, सिद्धि प्राप्त करने में पथ-प्रदर्शक होता है। अगर तुम इस विनयमूलक धर्म का पालन करने में तन-मन से प्रवृत्त होओगे तो तुम्हें भी अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी। तुम प्रातःकाल जिन परमात्मा का स्मरण करते हो, उन्होंने भी विनयमूलक धर्म द्वारा ही आत्मा का कल्याण किया था। उन महापुरुषों ने आत्मकल्याण के साथ जगत् कल्याण करने का भी ध्यान रक्खा था। गीता में कहा है:—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ ३–२२ ॥

पूर्ण महापुरुष के लिए कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, तथापि वह क्रिया करना छोड़ नहीं बैठते हैं। भगवान महावीर कृतकृत्य हो गये थे, फिर भी उन्होंने जनपद-विहार करके जगत के कल्याण का प्रयत्न किया था। इस प्रकार महान पुरुष समस्त कार्य कर चुकने पर भी कार्य करना त्यागते नहीं हैं। क्योंकि अगर वह कार्य करना छोड़ दें तो उनकी देखादेखी दूसरे लोग भी ऐसा ही करने लगें। साधारण जनता तो महान पुरुषों का अनुकरण ही करना जानती है। साधारण लोग उसी मार्ग पर चलते हैं, जिस पर महापुरुष चलते हों। अतएव तुम्हें किसी भी समय धर्मकार्य का त्याग करना उचित नहीं है। धर्मकार्य करते रहने से जनता के समक्ष धर्मकार्य का ही

प्रीति रक्खोगे तो दूसरे भी

ऐसा ही करेंगे। अगर स्त्रियां ही धर्म के पालन का दृढ़ नि
लें तो वह भी जगत् का बहुत कुछ हित कर सकती हैं। मर्ि
ही हुई हैं, मगर उन्होंने अपने आदर्श व्यवहार से जगत् क
मित हित किया है।